- प्राचीन-अर्वाचीन ज्ञान-विज्ञानकी प्रतिनिधि
- पुरुषार्थ-प्रतिपादक
- प्रसन्न-गम्भीर

चिन्तामणि

वर्ष १७ : अङ्क ३

वार्षिक मूल्य : आठ रुपये मात्र

एक प्रति : दो रुपया पचास पैसा

संस्थापक: अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी महाराज

सम्पादक

विश्वम्भरनाथ द्विवेदी

फोन : ६२६८३

व्यवस्थापक

सत्साहित्य-प्रकाशन-ट्रस्ट

'विपुल', २८/१६, बी० जी० खेर मार्ग

बम्बई-४००००६

चिन्तामणि

सत्साहित्य प्रकाशन (पब्लिकेशन) ट्रस्ट

'विपुल' २८/१६, बी० जी० खेर मार्ग, मालबार हिल, बम्बई–४००००६
फोन : ८१७९७६

पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज द्वारा विरचित एवं संस्था द्वारा प्रकाशित अनुपम आध्यात्मिक साहित्य

१. माण्डूक्य-प्रवचन (आगम प्रकरण) १०.००
२. माण्डूक्य (वैतथ्य प्रकरण) १२.००
३. माण्डूक्य-प्रवचन (अद्वैत प्रकरण) ४.५०
४. कठोपनिषद्-प्रवचन–१ ९.००
५. कठोपनिषद्-प्रवचन–२ १२.००
६. मुण्डक-सुधा ९.७५
७. ईशावास्य-प्रवचन ४.००
८. ब्रह्मसूत्र-प्रवचन-१ १०.००
९. ब्रह्मसूत्र-प्रवचन-२ १०.००
१०. ब्रह्मसूत्र-प्रवचन-३ १०.००
११. विवेक कीजिये–१ ५.५०
१२. विवेक कीजिये–२ ९.००
१३. सांख्ययोग (दूसरा अध्याय) ९.७५
१४. कर्मयोग (तीसरा अध्याय) ६.००
१५. ध्यानयोग (छठा अध्याय) ६.००
१६. ज्ञान-विज्ञान-योग (अ. ७) ६.००
१७. विभूतियोग (दसवाँ अ०) ५.२५
१८. गीता-दर्शन १-८ तक ४२.००
१९. गोपीगीत १०.००
२०. नारद भक्ति-दर्शन १५.००
२१. गोपियोंके पाँच प्रेम-गीत ०.४०
२२. भागवत विचार-दोहन ३.००
२३. मोहन नी मोहिनी (गुज.) ०.९०
२४. श्रीमद्भागवत-रहस्य ३.७५
२५. कपिलोपदेश ३.७५
२६. व्यवहार और परमार्थ ३.७५
२७. मानव-जीवन और भागवत-धर्म ४.५०
२८. वेणुगीत ३.००
२९. श्रीभक्तिरसायनम् १२.००
३०. श्रीभक्तिरसायन-प्रभा ३.००
३१. प० नि० आणि ब्रह्मज्ञान (मराठी) १.५०
३२. महाराजश्रीका एक परिचय (गुजराती) १.९०
३३. महाराजश्रीका एक परिचय १.००
३४. योगः कर्मसु कौशलम् ३.००
३५. ज्ञान-निर्झर १.५०
३६. भागवत-दर्शन (दो खण्ड) २००.००
३७. भागवतामृत १९.००
३८. वाल्मीकि रामयणामृत ३०.००
३९. महाराजश्री चित्रावली ११.००
४०. Glimpses of Life Divine 1.50
४१. Ideal and Truth 5.25

प्राचीन-अर्वाचीन, ज्ञान-विज्ञानकी प्रतिनिधि पुरुषार्थ-प्रतिपादक प्रसन्न-गम्भीर त्रैमासिक पत्रिका 'चिन्तामणि' वार्षिक शुल्क रु० ८.०० : एक प्रति रु० २.५०

पाठकोंकी सुविधाके लिए ट्रस्ट की भिन्न-भिन्न सदस्यता–श्रेणियाँ हैं, जिनके अन्तर्गत पूरा साहित्य भेंट स्वरूप एवं कमीशन पर दिया जाता है। कृपया अधिक जानकारी के लिए कार्यालय से सम्पर्क कीजिये।

विश्वविश्रुत उद्योगपति, श्रीघनश्यामदास जी बिरला व महाराजश्री

मई, '८३
१७–३

स्वस्त्ययन

भवा मित्रो न शेव्यो घृतासुतिर्विभूतद्युम्न एवया उ सप्रथाः ।
अधा ते विष्णो चिदर्ध्यः स्तोमो यज्ञश्च राध्यो हविष्मता ।।

ऋग्वेद मं० १, अ० २, सू० १५६

'हे सर्वव्यापी विष्णुदेव ! आप हमारे सूर्यके समान प्रकाशक मित्र हैं । आप ही हमारी सीमाओंके सम्पूर्ण बन्धन काटकर सर्वविध दुःखोंसे त्राण करते हैं और असीम बन्धनमुक्त सुखका दान करते हैं । आप घृतके जन्मदाता हैं । तथा घृताहुतियोंके द्वारा पूजित होते हैं । आपका यश एवं अन्न महान् है । आप ही सबको सुरक्षित रखते हैं । और सबसे बड़े हैं । सचमुच ही आप हमारे लिए भी ऐसे ही हों । हृदयेश्वर ! अतः आप ऐसे हैं, इसलिए आपके माहात्म्यके ज्ञाता यजमानको वारम्वार आपके स्तोत्रकी वृद्धि करनी चाहिए । यज्ञोंके द्वारा हाथमें हविष्य लेकर आपकी पूजा करनी चाहिए ।'

भागवत-दर्शन : २

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती

यशोदाका मोह कैसे दूर हुआ ?

दर्पणका स्वभाव है—सब कुछ दिखा देना, परन्तु वह अपने स्वरूपको नहीं दिखा सकता, न देख सकता। यहाँ तो श्रीकृष्णके मुख-दर्पणमें स्वयं-श्रीकृष्ण और उनका मुख भी दीख रहा है। यह आश्चर्य देखकर यशोदा माता अपने आप ही समझ गयीं कि यह तो प्रकाशान्तर-निरपेक्ष स्वयं प्रकाश आत्मदेव ही हैं। इसलिए उनका मोह निवृत्त हो गया।[1]

वैष्णवी मायाका विस्तार क्यों ?

श्रीकृष्णने अपने मनमें विचार किया कि थोड़ी-सी तो मैंने मिट्टी खायी, इससे माताकी बुद्धि व्याकुल हो गयी। अब देख लिया इसने सम्पूर्ण विश्व मुखमें; तो अवश्य ही मूर्च्छित हो जायगी। इसलिए माताको सावधान रखनेके लिए श्रीकृष्णने अपनी मायाका विस्तार कर दिया।[2]

यह ध्यान रखने योग्य है कि यह माया विमुखजन-मोहिनी नहीं है, स्वजन-मोहिनी है। इसलिए इसका विशेषण दिया है—'पुत्रस्नेहमयी'। यह भगवान्‌के सामीप्य और प्रेमको बढ़ाती है। विमुखजन-मोहिनी माया भगवान्‌से दूर और विमुख करती है, उसका प्रयोग दैत्योंपर होता है। स्वमोहिनी स्वयं श्रीजी हैं, जिन्हें देखकर स्वयं श्रीकृष्ण भी मोहित हो जाते हैं।

भगवान्‌ने विचार किया कि किसी विशेष प्रयोजनकी पूर्तिके लिए मैंने माताको मुखमें विश्वरूप दिखाया। यदि इस रूपकी स्फूर्ति सर्वदा बनी रहेगी तो न इसके हृदयमें वात्सल्य-स्नेह रहेगा और न मुझे माताका लाड़-प्यार ही मिल सकेगा। यही सोचकर अप्रतिहत लीलाशाली भगवान् श्रीकृष्णने यशोदाके मनमें प्रेममयी

---

१. सर्वदर्शनचणोऽपि दर्पणः स्वस्वरूप-कलने ह्यनीश्वरः।
अत्र तद्युतमवेक्ष्य तन्मुखं युक्तमात्ममतिराशु साऽभवत्॥

२. अत्यल्पभूमिशकलादनमाविशङ्क्य सम्भ्रान्तधीरियमभूत्पुनरद्य विश्वम्।
साक्षादवेक्ष्य भविताऽनवधानशालिन्येतद्धिया विभुरसावतनोत्स्वमायाम्॥

महावैष्णवी मायाका सञ्चार कर दिया।[1]

यशोदा धन्य क्यों ?

लोकपितामह ब्रह्मा जिनके पुत्र हैं और जगदम्बा, जगद्धात्री, महामाया जिनकी पत्नी हैं, उन्हीं परमेश्वरको अपना पुत्र माननेवाली यशोदाकी धन्यता स्वतः सिद्ध है।[2]

जिसके नामसे ही निरतिशय अमृतका रसास्वादन प्राप्त होता है, जो स्वयं अमृतस्वरूप हैं, बड़े-बड़े ॠषि-मुनि ध्यान-दानादिके द्वारा जिनकी सेवा करते हैं अमृत-तत्त्वकी प्राप्तिके लिए, वही प्रभु अपने मुख्य-रूपका मूल्य चुकाकर जिसके स्तनका दूध पीते हैं, उस यशोदा माताके सुकृतकी सीमा अनुपम है, इसमें क्या सन्देह।[3]

अहो भाग्यम्! अहो भाग्यम्!![4]

चिरन्तन मनीषी मुनिजन चिरकाल तक सूक्ष्मबुद्धि द्वारा बोधगम्य मार्गमें जिनका अनुसन्धान करते रहते हैं; जिनके द्वारा प्रकाशित वेदसमूह आजतक तात्त्विक रूपमें अपने प्रकाशकको नहीं ढूँढ सका, वही जगदादिकारण परमानन्दस्वरूप श्रीमान् प्रभु पुत्र होकर जहाँ स्वच्छन्द क्रीड़ा करते हैं उस व्रजमें रहनेवाले प्राणियोंके सौभाग्यका हम क्या वर्णन करें।

---

१. किञ्चित्कार्यवशाददर्शि वदने यद्विश्वरूपं मया
तत्स्फूर्तिः समवस्थिता यदि सदैवास्यां ततश्चिन्तितः।
अर्थो नैव भवे मनागपि ममेत्यालोच्य मन्येऽच्युतः
चित्तेऽस्रावतनोदकुण्ठचरितो मायां महावैष्णवीम्॥

२. पितामहोऽपि यत्पुत्रो जगद्धात्र्यपि यत्प्रिया।
तमीशमात्मजं मन्यमानाया धन्यताऽऽर्थिकी॥

३. नाम्नैवामृतमुत्तमं दिशति यो यश्चामृतात्मा स्वयं
सेवन्तेऽप्यमृतार्थमेव मुनयो यं ध्यानदानादिभिः।
स श्रीशो निजमुख्यरूपममलं तन्मूल्यमाकल्पयन्
यत्स्तन्यं पिबति स्म भुव्यनुपमा तत्पुण्यसीमा स्फुटम्॥

४. यं चिन्वन्ति चिरन्तना मुनिवरा बुद्ध्यैकबोध्याध्वनि
यज्जातोऽपि न वेद वेदनिवहोऽप्यद्यापि तत्त्वार्थतः।
स श्रीमान् जगदादिहेतुरपि सानन्दोऽपि पुत्रात्मना
स्वैरं क्रीडति यत्र तद् व्रजजुषां भाग्यं किमाचक्ष्महे॥

उलूखल बन्धन-लीला

ब्रिटिश शासनकालमें बङ्गालके सुप्रसिद्ध रंग-मञ्चपर 'नील-दर्पण' नाटकका अभिनय किया जा रहा था। उस दृश्यमें नीलके व्यापारी गोरे साहब गरीब जनतापर कैसा अत्याचार-अनाचार करते हैं; यह दिखलाया गया था। दर्शकोंकी श्रेणीमें विश्व-विश्रुत विद्वान् श्रीईश्वरचन्द्र विद्यासागर बैठे हुए थे। अभिनय देखते-देखते उन्हें यह विस्मृत हो गया कि यह नाटक है। वे क्रोधसे तिल-मिलाकर मञ्चपर चढ़ गये और अंग्रेज बने अभिनेताको जूतेसे पीटने लगे। पर्दा गिरा। वे शान्त होकर अपने स्थानपर बैठ गये। नाटकके व्यवस्थापकने मञ्चपर आकर दर्शकोंके सम्मुख भाषण किया—कि आज हमारी अभिनय-कला धन्य-धन्य हो गयी, विद्यासागर-जैसे महान् विद्वान् इस दृश्यके नाटकपनको भूल गये और सत्य समझकर अभिनेता नटपर प्रहार कर बैठे। धन्य है कला और धन्य है दर्शककी तन्मयता!

प्रपञ्चका विस्मरण और भगवान्में तन्मयता यही लीलाका प्रयोजन है। यह प्रपञ्चका लय करती है और भगवान्में लीन करती है। जहाँ स्वयं भगवान् ही लीलानायक हों, उस लीलाकी पूर्णतामें कोई सन्देह नहीं हो सकता। जहाँ प्रपञ्चका विस्मरण हो जाय, भगवान्की भगवत्ता भी भूल जाय, हम उनकी लीलामें तन्मय हो जायँ, यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। यहाँ हम इतना स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि भगवान्की लीलाके प्रतीकार्थ निकाले जा सकते हैं परन्तु वस्तुतः भगवान्की लीला प्रतीक नहीं होती। निराकारका साकार प्रतीक होता है। परोक्षका प्रत्यक्ष प्रतीक होता है। अज्ञातका ज्ञात प्रतीक होता है। परन्तु जो सर्वात्मा, सर्वस्वरूप है वह लीलाधारी और लीला भी है। अभिन्ननिमित्तोपादान कारणं हैं। सुनार भी वही, सोना भी वही। अतएव भगवान्की लीला भगवत्स्वरूप ही होती है और उसमें तन्मयता भगवत्स्वरूपापत्ति ही होती है। उस रस-कल्लोलमें उन्मज्जन-निमज्जनके अतिरिक्त उसका कोई अन्य प्रयोजन या फल नहीं होता। भगवान् स्वयं सब फलोंके फल हैं। उनकी लीला भी वैसी ही है। वह गौण हो और उसका फलितार्थ मुख्य—यह कल्पना ठीक नहीं है। उल्लसित रसका ही नाम लीला है। यह भगवन्मय भगवद्-विलास है। अविद्यामूलक बन्धनकी निवृत्तिके अनन्तर ही इसका यथार्थ अनुभव होता है।

आइये, मेरे साथ गोकुलमें चलिये। भले ही आप अन्तर्देशके निभृततम प्रदेशमें प्रवेश करके नितान्त शान्त स्थितिमें विराजमान हों। आइये, एकबार एकान्तकान्तारका

शून्यप्रदेश छोड़कर, 'जहाँ गौएँ—इन्द्रियाँ घूम-फिरकर विषय-सेवन करती हैं, वहीं उन्हींके बीचमें, उन्हीं विषयोंमें, निराकार नहीं साकार, अचल नहीं चञ्चल, कारण नहीं कार्य, विराट् नहीं शिशु, गम्भीर नहीं स्मित-सुन्दर, जगन्नियन्ता नहीं यशोदोत्सङ्ग-लालित, साक्षात्परब्रह्मका दर्शन करें। यह ब्रह्मका प्रतीक नहीं है, साधन करके ब्रह्म नहीं हुआ है, अविद्या-निवृत्ति करके ब्रह्मानुभूति नहीं प्राप्त की है, यह ब्रह्मका अवतार नहीं है, यह आचूल-आपादमूल शिशु-ब्रह्म है—इसके दर्शन कीजिये।

अभी-अभी योशदा माता इस शिशुके मुखमें विश्व-दर्शन करके चकित-विस्मित हो चुकी हैं। श्याम-ब्रह्मने सोचा—कहीं मेरी माँ मुझे सिंहासनपर बैठाकर चन्दनमाल्य अर्पित न करने लगे, आरती न उतारने लगे, इसलिए 'मैया-मैया' कहकर गलेमें दोनों हाथ डाल दिये, हृदयसे मुख लगा दिया। माता सब कुछ भूलकर दुग्धाकार-परिणत हार्दस्नेह-रसका पान कराने लगी। पहलेका विश्वरूप विस्मृतिके गर्भमें लीन हो गया। ऐश्वर्य अन्तर्धान हो गया। शैशव-माधुरी अभिव्यक्त हुई। इसमें प्रपञ्चका विस्मरण और शिशु-ब्रह्ममें परमासक्ति अनिवार्य है। यह सुख स्वर्गके समान परोक्ष नहीं है, ब्रह्मानुभूतिके समान शान्त नहीं है, विषय-संसर्गके समान आपातरमणीय एवं विनाशी नहीं है। इस रसमें देश, काल एवं वस्तुका लोप हो जाता है। ऐसा ही हुआ। माँ सब कुछ भूलकर इसी रसमें डूब गयी।

राजा परीक्षित यह लीला सुनते-सुनते मृत्युकी विभीषिका और मोक्षकी अभीप्सासे मुक्त हो गये। उन्होंने अपने हृदयकी लालसा प्रकट की—'यह सुख-सौभाग्य जो देवकी-वसुदेवके लिए भी अलभ्य है, इन्हें कैसे मिला? मुझे कैसे मिलेगा?' शुकदेव मुनि मुस्कराये—'बस, इतनेमें ही आश्चर्य-चकित हो गये? यशोदा मैयाने इस शिशुब्रह्मको गाय बाँधनेकी रस्सीसे ऊखलमें बाँध दिया था। इतने भक्त-वत्सल, भक्तोंके इतने अपने! वस्तुतः प्रेम भक्तके हृदयमें नहीं होता, वह ईश्वरके हृदयमें होता है। ईश्वर जब भक्तके परवश होकर विवशताकी माधुरीका आस्वादन करता है तो उसे आत्मसुखसे भी कुछ अधिक अनुभूति होती है। जहाँ विवशतामें भी मिठास-का अनुभव हो वहाँ प्रेमरस छलकता है। ईश्वरका यह बन्धन भक्त-वात्सल्य का अनुपम उदाहरण है।'

इसकी उपलब्धि कैसे होती है? जो साधनसे मिलता है वह सीमित पारिश्रमिक होता है। जो स्वामीकी कृपासे मिलता है वह कब मिले; कब न मिले, यह निश्चित नहीं रहता। तब भगवद्रसका आस्वादन कैसे

हो ? न साधन, न कृपा। एक तीसरा मार्ग है। वह है महापुरुषका प्रसाद। यह ठीक है कि ईश्वरके अधीन है सब-कुछ, परन्तु वह ईश्वर प्रेमके अधीन है। प्रेमका धनी है। महापुरुष और प्रेमका प्रेप्सु है ईश्वर। महापुरुष भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके हृदयमें प्रेम-रसका सञ्चार करके उसके द्वारा ईश्वरकी रस-पिपासाको तृप्त करते हैं। अतएव महापुरुष जब ईश्वरसे कह देते हैं कि तुम इस भक्तके साथ ऐसी लीला करो, ईश्वरको वैसा ही करना पड़ता है और इस विवशतामें ईश्वरका प्रेमरस उच्छलित होने लगता है। महापुरुषके प्रसादसे यह रस केवल भक्तको ही नहीं, अभक्तको भी मिल सकता है। उदाहरणार्थ कुबेरके उद्दण्ड एवं जडभावापन्न यमलार्जुन।

नित्यसिद्ध भक्तोंकी चर्चा छोड़ दें। नित्यसिद्ध यशोदा-नन्दका दर्शन दुर्लभ है। ब्रह्मा हैं महापुरुष। उनके कृपाप्रसादके पात्र हैं द्रोणवसु एवं उनकी पत्नी धरा। इनका स्नेह सिद्ध हुआ ब्रह्माकी कृपासे। इन्होंने शिशु-ब्रह्मको प्रेम-बन्धनमें बाँध लिया। यशोदाने रस्सीसे ऊखलमें बाँधा। कृष्णके साथ बँधे ऊखलने जड़-वृक्षोंका उद्धार कर दिया। यह महापुरुषके प्रसादकी परम्परा हुई और भी देखिये, महापुरुष नारदके मनमें उद्दण्ड सुरापायी, अनाचारी, परस्त्रीसमासक्त यक्ष-राजकुमारोंपर करुणाका उदय हुआ। उन्होंने उनमें स्वधर्म (भगवद्भक्ति) का सञ्चार कर दिया। उन्हें प्रपञ्च-विस्मृतिके रूपमें जड़—वृक्षयोनि और हृदयमें भगवत्-स्मृति प्राप्त हुई। यह अनुग्रह है। श्रीकृष्णकी प्राप्ति हुई—यह प्रसाद है। इस प्रकार प्रपञ्च-विस्मरण, भगवत्स्मरण, भगवद्दर्शन महापुरुषके कृपा-प्रसादसे ही प्राप्त होते हैं।

आइये, गोकुल गाँवके तीन लोकसे न्यारे पथमें। यह स्थान-विशेषमें सर्वोपादान परमेश्वरका आविर्भाव है। दामोदर-मास कार्तिकमें अर्थात् काल-विशेषमें लीलाका अवतरण है। यशोदा मैयाकी गोदमें रूपका अवतरण है। सब कृष्ण ही कृष्ण हैं।

भक्त माता यशोदाका दर्शन कीजिये। वह समग्रयशके निधान भगवान् श्रीकृष्णको सतृष्ण बनाकर अपना स्नेहसार आस्वादन करनेके लिए उत्सुक बना देती है। उसमें ऐसा क्या विशेष है? देखिये, स्वयं आनन्दगेहिनी नन्दगेहिनी है परन्तु अपने शिशुके प्रति इतना प्रेम है कि जान-बूझकर गृहदासियोंको दूसरे कर्मोंमें लगा देती है। अपने हाथों श्रीकृष्णके लिए विशेष रूपसे निश्चित पद्मगन्धा गायके दूधसे जमे दहीका मन्थन करती है। माँ अपने हृत्पिण्ड वात्सल्य-भाजन शिशुके लिए अपने हृदयका स्नेह तो देती ही है, उसका मूर्तरूप दूध भी पिलाती है। यदि नवनीत खिलाना

हो तो दूसरोंके हाथका निकाला हुआ नहीं, अपने हाथका निकाला हुआ हो। माता मल्ने मूर्तिमान् स्नेह। माताके अतिरिक्त और किसीके हृदयका भाव शिशुके लिए ठोस वस्तुका रूप (जैसे दूध) ग्रहण नहीं करता। माता यशोदा का कर्म दधि-मन्थन कृष्णके लिए है। उसके हृदयमें स्मरण कृष्णकी बाललीलाओंका है। स्मरण संगीत की रसमयी धाराके रूपमें वाणीसे मूर्च्छित हो रहा है। कर्म, मन और वाणी तीनों कृष्णके लिए। भक्तिका यही स्वरूप है। कर्ममें उद्देश्य भगवान् हो अर्थात् उसके लिए किया जा रहा हो। स्मरणका विषय भगवान् हो। वाणीके शब्द भगवत्सम्बन्धी हों। यह मूर्तिमती भक्ति है। इसे अपने शरीर और शृङ्गार विस्मरण हैं। स्वेद झलकता है मुखपर। मालतीके पुष्प सिरसे झड़कर पाँवमें गिरते हैं। शुकदेवजी इसकी झाँकीका दर्शन करते हैं। सच-मुच यह भक्तिमाता ही यशके निधान भगवान्‌में अविद्यमान यशका दान करती है। भगवान् स्वतन्त्र हैं, वे भक्तके परतन्त्र हो जाते हैं, ऐसा यन्त्र-मन्त्र भक्तिमाताके जीवनमें ही होता है। माता न होती तो भक्तवश्यताका यश कहाँसे मिलता?

हाँ, तो; माता दधि-मन्थन कर रही है। उसके मनमें लालसा है कि लालाके शयनसे उठनेसे पूर्व सद्याखन (सद्योनवनीत) निकाल लूँ परन्तु मन्थन करे कृष्णको खिलानेके लिए, लालसा करे और वे सोते रहें—यह भगवत्स्वरूपके अनुरूप नहीं है—'तांस्तथैव भजाम्यहम्' इस स्वभावके अनुगुण हो कुछ करना चाहिए। माँका स्नेह देखकर कृष्णका हृदय स्नेहसे भर गया। हृदय द्रवित हुआ। शरीरमें रोमाञ्च, मुखपर मुसकान, नेत्रोंमें चमक, साथ ही माँके पास पहुँच जानेकी ललक। अँगड़ाई ली, हाथोंसे नेत्र मल लिये, कपोलोंपर कज्जल फैल गया। माँ-माँ बोले, पलङ्गपर पाँव लटकाकर बैठ गये। बिना हाथ-मुँह धोये माँके पास पहुँच-कर पल्ला पकड़ लिया—ऊँ-ऊं, मैं दूध पीऊँगा। माँ मन्थनमें लगी रही। शिशु अपना। दूध छातीमें। मक्खन आने ही वाला है, कहीं बैठ न जाय। ध्यान नहीं दिया। शिशु-ब्रह्म धरतीमें लोट-पोट होने लगा, रोने लगा। फिर भी ध्यान न देनेपर रयि (मथानी) पकड़कर मन्थनका निषेध कर दिया। सारे कर्म, सभी साधन तभीतक हैं जबतक परमेश्वर न मिले। वह नव-नीतोंका नवनीत श्याम-ब्रह्म आगया तो मन्थनसे क्या लाभ? प्रयोजन-पूर्तिसे साधनका बाध हो जाता है। नदीके पार पहुँच गये, अब नावका क्या प्रयोजन? यशोदा माताने उप-निषत्सुधाब्धिमें आहिण्डन करनेवाली विवेकी मथानी मानो छोड़ दी।

अपने हृदयसे लगे शिशु-ब्रह्मको दूध पिलाने लगीं।

आचार्य वल्लभ इस प्रसङ्गका रसास्वादन करते हैं कि ऊखल-बन्धनका अत्यन्त विस्मयकारी चरित्र भक्तिको निश्चल करनेके लिए है। इसके द्वारा भगवान्‌के स्वरूप, कृपालु स्वभाव और दया-मिश्रित ज्ञानकी अभिव्यक्ति होती है। यदि भक्तोंका भगवान्‌में और भगवान्‌का भक्तोंमें परस्पर विरोध हो जाय तो उभय सम्बन्धसे दृढ़ हो जाता है। जीवका ज्ञान-वैराग्य और भगवान्‌का अनुग्रह—इन्हींसे भगवान्‌का वशीकार सिद्ध होता है। भक्ति नवधा प्रसिद्ध है। दसवीं गुणातीत है। अथवा नौ अङ्ग हैं और उनमें अनुगत दसवीं भक्ति स्नेह है। अतः इसमें कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनोंका समावेश हो जाता है। जीव जब ईश्वरसे प्रेम करने लगता है तब एकबार भगवान् मागते हैं। इससे आसक्ति और दृढ़ हो जाती है।

यशोदा गुणगान और दधि-मन्थन दोनों साथ-साथ करती हैं। बाल-लीलाएँ अनेक हैं। उनका गान मुख्य है। दधि-मन्थन गौण। यदि वह शीघ्र समाप्त हो जाय तो गानके रसमें बाधा पड़े। केवल दही नहीं मथा जाता, क्रियाशक्ति भी मथी जाती है। इसीसे विषय (दही) और क्रिया (मन्थन)के सम्बन्धसे स्मृति परिपुष्ट होती है। परन्तु यशोदाने इस गाना-मृतके आस्वादनमें भी स्वमुखरूप स्वार्थ देखा। अतः उसको गौण करके पूरी शक्तिसे दधि-मन्थनमें लग गयीं। भले ही अपने शरीरको पीड़ा पहुँचे—स्वेदादि हों, भगवद्भोग्य स्तन्यपयो-रसका भी निरोध करना पड़े, तद्‌गत देवताका निरोध करना पड़े, आन्तर स्नेह-धारामें प्रतिबन्ध उपस्थित हो, फिर भी यशोदा दही मथती जा रही हैं। उनकी यह तत्परता देखकर मुक्त पुरुषोंके हृदयमें भी क्षोभ होता है। वे भी अपने स्नेह-लोभका संवरण नहीं कर सकते। सोचने लगते हैं, हाय! यह सुख-सौभाग्य हमें प्राप्त नहीं हुआ। यशोदा माताके सिरसे मालतीके पुष्प गिर रहे हैं। इसका अभिप्राय बताते हुए आचार्य कहते हैं कि माताका केशपाश सिद्धस्थान है। वहाँ मालती अर्थात् ब्रह्मविद्याकी स्थिति है। मालती = मा + अलम् = लक्ष्मीसे परिपूर्ण जगत् 'मालम्' है, उसका अतिक्रम करके जो रहे, सो मालती अर्थात् ब्रह्मविद्या। वह भी भले चली जाय परन्तु यशोदा दही मथेगी।

भगवान्‌का आना और दर्शन देना, यह क्रिया और ज्ञान दोनोंका समन्वय है। सगुण-साकार दर्शनमें यह समन्वय अपेक्षित है। इसीसे बाह्य और आन्तर उभयविध वृत्तियोंका निरोध होता है। हरि दुःखहारी हैं। वे माताका श्रमदुःख निवारण करनेके लिए मथानीको

पकड़ते हैं अर्थात् करणका निरोध कर देते हैं। यह मातृनिष्ठ और स्वनिष्ठ प्रीतिके युगपत् उदयके लिए युक्ति-विशिष्ट है। प्रीति जग गयी। भगवान् अङ्कातीत होनेपर भी अङ्कपर आरूढ़ हुए। माताकी प्रीति और भगवान्‌के अनुग्रहका यह स्पष्ट निदर्शन है। कृष्ण माँका हार्द-रस स्नेह पी रहे हैं और माता पुत्रके स्मित-विकसित मुखार-विन्द मधुका पान कर रही हैं। उभय-निष्ठ रस ही पूर्ण होता है, एकांगी रस अपूर्ण होता है!

श्रीजीव गोस्वामीके मतमें उलूखल बन्धन-लीला पूर्वलीला एवं उत्तर-लीलासे विलक्षण है। मृद्भक्षण एवं ग्वालिनोंकी तालीके साथ नृत्यसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु श्रीधर स्वामीने इस लीलाकी यह संगति लगायी है कि मुखमें विश्व-दर्शनसे माताके मनमें जो विस्मयका उदय हुआ था, उसकी शान्तिके लिए प्रत्येक रस्सी दो अङ्गुल न्यून है, यह दिखाकर अपनी पूर्णता अभिव्यक्त कर दी गयी। श्रीभक्तिरसायनकार भक्तकवि श्रीहरिसूरिने यह कहा है कि मुखमें नामरूपात्मक प्रपञ्चका दर्शन हो जानेपर भगवत्सेवाके कार्यमें भक्तकी प्रवृत्ति स्वाभाविक है। जो कर्मानुष्ठानके समय भी भगवत्स्मरण करता है उसे भगवान् सुलभ होते हैं। माताके वस्त्राभूषणके वर्णनसे यह सिद्ध होता है कि जो भगवान्‌का श्रवण-वर्णन, ध्यान-गान एवं सेवा-स्नेहमें संलग्न है, उसको संसार-त्यागकी आवश्यकता नहीं है। वह अपने विहित सांसारिक विषय-भोगोंके साथ भी भगवान्‌को प्राप्त कर सकता है। भगवान् हृदयके स्तन द्वारा छलकते हुए रसको देखते हैं और उसका पान करना चाहते हैं। बाह्य नैवेद्य—नवनीतकी ओर नहीं देखते। भक्तिकी पूर्णतामें कर्मत्यागका प्रत्यवाय नहीं है। जब अमृतस्वरूप 'मैं' प्राप्त हो गया तो भूसो कूटनेसे क्या लाभ? यशोदाने सारे कर्म छोड़ दिये। वे स्मित-सुन्दर मुखका पान करने लगीं और श्रीकृष्ण दूधका।

शिशुका नैसर्गिक पेय है माताका स्तन्य। वह भगवद्भोग्य श्रीकृष्ण पेय-पय हो चुका है। अब प्रश्न है—दूसरोंके पयको भगवद्भोग्य बनानेका। यह भी महापुरुष ही कर सकते हैं। अतएव मन्थनस्थानके बाह्यदेशमें परि-पक्व होनेके लिए अग्निपर गायका दूध चढ़ाया गया है। अग्नितापसे उसमें उत्सेक (उफान) आया। भागवत-हृदयका स्वभाव यह है कि वह आत्मसुखका सङ्कोच अथवा परि-त्याग करके भी अन्य सुखको समृद्ध करे। इस प्रसङ्गमें माताने आत्मसुखका ही नहीं, भगवत्सुखमें भी बाधा डाली। वह श्रीकृष्णको छोड़कर वेगसे

जलते दूधको सम्भालनेके लिए दौड़ पड़ी। दूधमें उफान क्यों आया? मन्थनानुरोधका परित्याग करके भगवदनुरोधके अनुसार दुग्धाप्यायनमें प्रवृत्त यशोदा उसकी उपेक्षा करके दुग्ध-रक्षणमें क्यों प्रवृत्त हुई?

सब कुछ भगवदात्मक ही है। भगवद्धामके जड़वत् प्रतीयमान पदार्थ भी चेतन ही होते हैं। भूमि, लता, वृक्ष, सब भावरूपसे अभिव्यक्त सद्-ब्रह्म है। पशु-पक्षी, गाय-गोपालके रूपमें चिद्ब्रह्म है। आलम्बनविभाव यशोदा-कृष्ण, श्रीदामादि सखा एवं कृष्ण, गोपी-कृष्ण आनन्द ब्रह्म हैं। अग्निपर संतप्त होता हुआ दुग्ध भी भाव-संवृत चेतन है। वह अनेक जन्मोंमें तप करता हुआ भगवद्भोग्य दूधके रूपमें परिणत हुआ है। अब भी तप कर रहा है। उसके मनमें तीव्र अनुतापकी ज्वाला प्रदीप्त हो उठी—हाय! हाय! सामने मेरे स्वामी हैं। उनके नाम-स्मरणसे भी जीवोंका पाप-ताप भस्म हो जाता है परन्तु मैं अभागा उन्हींके सामने संतप्त हो रहा हूँ। मुझे धिक्कार है। अब मैं आगमें कूदकर आत्महत्या कर लूँगा। दूधके इस संकल्पको जानकर भगवान् श्रीकृष्णने ही यशोदाको उसपर दृष्टिपात करनेकी प्रेरणा दी। संस्कृतमें 'यशोदयेक्षितम्' है। इसका अर्थ यह भी है कि अपने यश और दयाको आज्ञा दे दी कि इसको सम्भालो। भक्तरक्षणके बिना मेरा यश अधूरा, दया निकम्मी। अन्यथा यशोदा श्रीकृष्ण-मुखारविन्दका पान छोड़कर दूधके लिए क्यों दौड़ती?[1]

दूधको अपनी भूल ज्ञात हुई। यशोदाका भगवद्-रस छूट गया। भगवान्के स्तन्य-पानमें बाधा पड़ी। दूध है तो तपस्वी परन्तु प्रियतमको सुख पहुँचानेके उल्लासातिशयमें इतना तन्मय हो गया कि इससे उन्हींके सुखमें बाधा पहुँच जायगी—इसका ध्यान नहीं रखा। उसे अपने मर्यादातिक्रमणका ज्ञान हुआ। अपनेको धिक्कारा। लज्जा-सङ्कोचका उदय हुआ। मुँह लटक गया अर्थात् पात्रमें वह अपने स्थानपर बैठ गया।[2]

---

१. यन्नामस्मृतिरप्यलं विधुनुते सन्तापमस्य प्रभोर-
ग्रेतापमुपैमि तद्धिगिति मां मत्वाऽग्नियाये पयः।
उद्युक्तं भवतीत्यवेक्ष्य हरिणा सर्वेश्वरेणैव तत्
सत्यानन्दयशोदयेक्षितविहाकारीति मन्यामहे॥

२. उन्मार्गवर्तनेन हि पररसभङ्गो मयाऽधुनाऽकारि।
धिङ्मामिति किं त्रपया पयस्तदासीदधोमुखं सद्यः॥ (भक्तिरसायनम्)

वह अधिक तपस्या करके अपने पूर्ण परिपाककी प्रतीक्षा करने लगा। भगवान्‌के सम्मुख या भागवतका दृष्टिपात होनेपर प्रतीक्षाकी आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। भगवान् किसीकी परीक्षा नहीं लेते; क्योंकि वे सर्वज्ञ हैं। जो न जानता हो वह परीक्षा करके जाने। वे जैसे अपनेको अभिव्यक्ति देकर भक्तोंमें प्रकट होते हैं, वैसे ही भक्तोंके भावको अभिव्यक्ति देकर साधकोंके लिए आदर्श व्यञ्जना करते हैं। अब भगवान्‌के मनमें विचार-परम्पराका समुदय हुआ। माँ भक्तको बचानेके लिए दौड़ी, यह ठीक है परन्तु मुझे छोड़कर क्यों गयी? बड़े-बड़े ऋषि-मुनि सोऽहम्-भावनाके द्वारा भी मुझे प्राप्त नहीं कर सकते। वही मैं इसका भाव देखकर शिशु बना। यह दूधके लिए मुझे छोड़कर जाती है। अवश्य क्रोध करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि यशोदा श्रीकृष्णको छोड़कर चली जायँ और श्रीकृष्ण चुपचाप पड़े रहें तो मातृ-स्नेहकी अभिव्यक्ति नहीं हुई और यदि श्रीकृष्ण कुछ उपद्रव करें तथा माता उसके लिए शिक्षा-दण्डका प्रयोग न करे तो पुत्र-स्नेहकी अभिव्यक्ति नहीं हुई। स्नेह एक भाव है और वह वस्तु, क्रिया अथवा शब्दके वाहनपर आरूढ़ होकर व्यवहारमें उतरता है। निष्क्रियतामें केवल असंगता ही अभिव्यञ्जित होती है। वह लीलारस नहीं। स्नेहके प्रवाहमें बाधा पड़नेपर कोपका जन्म हुआ।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि सबसे प्रथम श्रीकृष्णके मनमें स्तन्य-पानकी कामना अवतीर्ण हुई। कामनाके बाद स्तन्यका भोग हुआ। भोगमें अतृप्ति हुई—यह लोभ है। लोभके प्रतिहत होनेपर कोपका उदय हुआ। भाण्ड-भञ्जनकी क्रिया = हिंसा आयी। झूठे आँसू = दम्भका आना रोदनात्मक रुद्रके आगमनकी सूचना है। बासी माखनकी चोरी तृष्णाधिक्य है। भय, पलायन और बन्धन उसके उत्तर भावी परिणाम हैं। कामनासे बन्धन-पर्यन्त ईश्वरकी लीला है। जीवके लिए सावधान रहनेकी प्रेरणा है। भगवान् सर्वात्मक हैं। वे स्तेनों और तस्करोंके भी पति हैं। स्त्री-पुरुष, कुमारी-कुमार, युवा-वृद्ध सब उनका स्वरूप है। जो उनको पहचान लेता है वह सब भावोंमें, सब रूपोंमें उनका दर्शन करता है। अच्छा, तो अब इस लीलामें प्रवेश किया जाय।

एक जिज्ञासाका उदय होता है। श्रीकृष्ण हार्द-स्नेह रसका पान कर रहे हैं और यशोदा दर्शन-रसका। फिर वे उन्हें छोड़कर क्यों चली गयी? इसके समाधानमें श्री विश्वनाथ चक्रवर्तीका कहना है कि आप यह शंका सर्वथा मत कीजिये कि यशोदाकी श्रीकृष्णपर जितनी ममता है उससे

अधिक दूधपर है क्योंकि प्रेमकी परिपाटी ही ऐसी है।[1]

अपने प्रियतमके भक्ष्य, पेय आदि उपयोगकी वस्तुओंमें कोई ऐसी अपेक्षा होती है, जिसके कारण कभी-कभी प्रियतम भी उपेक्षाका पात्र हो जाता है। यह प्रेमकी विचित्र परिपाटी है। इसे कोई-कोई प्रेमवती ही समझ सकती है।

दूसरी बात यह है कि यशोदा माता परम भागवत हैं। उनकी करुणा-पूर्ण दृष्टिसे ही दूध भगवद्-भोग्य एवं भगवद्-तादात्म्याप हो सकता है। ऐसे अवसरोंपर भगवान्‌को एक ओर रख-कर भी भक्तिकी ओर देखना पड़ता है। यशोदा माता यदि एक-दो बार दूधको गर्म-ठण्डा न करतीं तो वह भगवत्प्राप्तिके योग्य नहीं हो सकता था।

किसी-किसीने ऐसी उत्प्रेक्षा की है कि जब यशोदा माताकी दृष्टि अपने उत्सङ्गमें अभङ्ग क्रीडा करते हुए श्यामसुन्दरसे हट गयी और दूधपर चली गयी तो वहाँ आसक्ति होना युक्ति-युक्त ही है। भगवद् विमुखताके परिणामका यह निदर्शन है। इसमें संसारासक्त स्त्रियोंके स्वभावका भी स्फुटीकार है। श्रीहरिसूरिका भक्ति-रसायनमें कहना है कि महान् सत्पुरुषका तिरस्कार करके क्षुद्र वस्तुके प्रति आदरभावका होना स्वाभाविक है। कृष्णको छोड़कर दुग्धको सम्भा-लना यही सूचित करता है।

माताके चले जानेपर श्रीकृष्णके मनमें कोपका सञ्चार हुआ। प्रलयके समय ईश्वरके कोपसे ही संहारक्रिया होती है। अत. ईश्वरके साथ कोपका मेल नहीं है—यह सोचना असङ्गत है। माता छोड़कर चली जाय और बालक असङ्ग-उदासीन रहे, उपेक्षा कर दे तो उसके हृदयमें माताके प्रति प्रेमकी न्यूनता है। शिशु अपना है तो माता भी अपनी है, वह क्यों चली जाय? आचार्य वल्लभका कहना है कि श्रीकृष्णके हृदयमें बहुत-से बालक विद्यमान हैं। उनकी रक्षा एवं सम्वर्धनके लिए वे उन्हें पुष्टि दे रहे थे। भक्ति-मार्गके अनुसार माताके द्वारा उसमें बाधा डाली गयी। अत-एव कोपका उदय हुआ। कोपके अनुभाव प्रकट हुए। होठ लाल-लाल होकर फड़कने लगे। लाल-लाल होना रजोगुण है और फड़कना कुछ बोलनेके लिए उद्वेग है। कोप और यशोदाके बीचमें भगवान्‌के अधरमें स्थित लोभ प्रकट हो गया। मानो, कह रहा हो, दोष माताका नहीं, मेरा है। आपमें अतृप्ति = लोभ है और मातामें दूधको रक्षाका लोभ

१. तद्भक्ष्यपेयादिषु काप्यपेक्षता यया पुनः सोऽपि समेत्युपेक्ष्यताम्।
प्रेम्णो विचित्रा परिपाट्युदीरिता बोध्या तथा प्रेमवतीभिरेव या॥

है। आप मुझे दण्ड दीजिये, माताको नहीं। कृष्णने दोनोंके लिए दण्ड-विधान किया।° रक्तवर्णं रजोगुणको श्वेतवर्णं सत्त्वगुण-रूप दाँतोंसे दवा दिया। श्वेतिमा सात्त्विक ब्राह्मण है। रक्तिमा राजस क्षत्रिय है। दाँत द्विज हैं। सत्त्वगुणके द्वारा रजोगुणको अथवा ब्राह्मणके द्वारा क्षत्रियको शिक्षा दी गयी। माताके लिए भी दण्ड-विधान हुआ। शैशवमें ऐसा होता है। दूधके लोभसे मुझे छोड़कर गयी तो दूध-दहीकी और भी हानि उठानी पड़ी। यज्ञायुध (दृषदशमा) लोढ़ेसे भागवत-यज्ञमें बाधक भाण्डासुरको भग्न कर दिया।

श्रीकृष्णने मन-ही-मन कहा—'जब मनुष्य यशोदया-विहीन होता है अर्थात् यशोदा एवं यश-दयासे रहित होता है, तब उसके ऐसे ही कृत्य होते हैं।' मानों, श्रीकृष्णने यहींसे शिक्षा लेकर गीतामें कहा हो—'कामी दीन हो जाता है, लोभी पुत्रके प्रति भी निर्दय होता है, क्रोधीका विवेक नष्ट हो जाता है, अतः इन तीनोंका परित्याग करना चाहिए।' इस प्रसङ्गमें विस्तारसे समझनेकी आवश्यकता नहीं है।

परन्तु यह क्रोध और आँसू मिथ्या हैं। इसका प्रमाण क्या है? तत्काल एक व्यवहित स्थानपर जाकर नवनीतका आस्वादन करने लगते हैं। क्रोध और आँसूके साथ भोजनका मेल नहीं है। सच्चे आँसू आ रहे हों तो उदानवायुकी प्रबलताके कारण निगलनेकी क्रिया नहीं हो सकती। वे अपना विनोद प्रकट कर रहे हैं। बालकोंको भोजन दे रहे हैं और माताको उलाहना दे रहे हैं।

माताने शान्तिसे दूधको परिपक्व करके भगवद्भोग्य बना दिया। उसे अग्नितापसे मुक्त करके उतार दिया—पार कर दिया। भागवतका काम पूरा हुआ। लौटकर आयी, देखा, मटका फूटा हुआ है, अपने पुत्रका कर्म। हँसी आगयी। जलते हुए दूधको तारा माताने। मटके रहित दधिको तारा भगवान्ने। दैवगतिसे हानि देखकर माताको हँसी आगयी। भला, होनीको कौन टाल सकता है। कहा भी है[1]—

समुद्रने अमृतके द्वारा देवताओंकी, लक्ष्मीके द्वारा भगवान् विष्णुकी, मर्यादा-स्थापनके द्वारा पृथिवीकी, कल्पवृक्षसे इन्द्रकी, चन्द्रकलासे शंकर-

---

१. पीयूषेण सुराः श्रिया मुररिपुर्मर्यादया मेदिनी
शक्रः कल्परुहा शशाङ्ककलया श्रीशङ्करस्तोषितः।
मैनाकादिनगा निजोदरगृहे यत्नेन संरक्षिता-
स्तच्चूलीकरणे घटोद्भवमुनिः केनापि नो वारितः॥

की सेवा की, उन्हें सन्तुष्ट किया। अपने उदर-गृहमें बसाकर यत्नपूर्वक मैनाकादि पर्वतोंको संरक्षण दिया। परन्तु जब अगस्त्य मुनि उसको पीने लगे तब किसीने उनको रोका नहीं, रक्षा नहीं की।

माताको हँसी क्यों आयी? भाण्डासुर मर चुका था। क्रोध आनेका कोई कारण नहीं था। थोड़ेकी रक्षाके लिए गयी और बड़ी हानि हुई, क्या आश्चर्य है! पुत्र माताकी सम्पत्तिकी रक्षा करता है और हमारे घरमें ऐसा लाल आया जो अपने सम्पदाको बिगाड़ता है। हँसनेका अर्थ यह है कि श्रीकृष्ण डरकर कहीं भाग न जायँ!

ऊखल उलटा करके रखा था। वह अग्नि-नाभि है। सुपर्णचयनमें यज्ञपुरुषके समान भगवान् उसपर बैठ गये। मर्कटोंको बासी मक्खन देने लगे। अतिरिक्त वस्तु अतिरिक्तको देनेसे अतिरिक्तकी शान्ति हो जाती है। दानमें भी यथेष्टता थी। इस चोरीके कर्ममें नेत्र विशंकित हैं। यशोदा धीरे:धीरे पीछेसे आ रही है। पीछेसे आनेके कारण श्रीकृष्णके पृष्ठमें स्थित अधर्मका दर्शन होता है। श्री सुदर्शनसूरि एवं श्री वीर राघवाचार्यने यहाँ 'मर्क' शब्दका अर्थ मर्कट, मार्जार एवं व्रजमें सखा, ऐसा लिखा है। किसी-किसीने मर्क अर्थात् माखनके लिए आये हुए सखा।

श्रीहरिसूरि कहते हैं कि यह उलूखल नहीं, खल है। माताके द्वारा पुत्रकी उपेक्षा होनेपर खल-संगति स्वाभाविक है, खल भी अभिमानीके साथ टकराता है और विनयीके साथ मेलजोल कर लेता है। मानो, इसी दृष्टिसे श्रीकृष्ण ऊखलके निचले भागपर जो कि उलटा होनेके कारण ऊपर हो गया था, बैठ गये। खलवशीकारके लिए उसका चरण-स्पर्श विहित है और भी, खल-संग प्राप्त होनेपर भी उदार पुरुषके सौजन्य, शील; स्वभावमें अन्तर नहीं पड़ता। ऊखलपर बैठे हुए श्रीकृष्ण भी उदारतापूर्वक दान कर रहे हैं। श्रीकृष्णने स्पन्दमान रोषका स्पर्श किया था। उसके दोषका मोष (नाश) करनेके लिए दान कर रहे हैं। दान ही दोष-शोषक है।'[1] श्रीकृष्णके मनमें है कि मैं वानरको भी नवनीतामृत सुलभ करनेके लिए पृथिवीपर आया हूँ। भजन करो और अमृत लो। ये वानर हमारे रामावतारके सखा, सहायक

---

१. न हीयते वदान्यस्य सच्छीलं खलसंगतः।
उलूखलकृतावासोऽप्यौदार्यान्निच्युतः ॥
दानमेव जने यापद्रोषदोषाघमोषकम्।
भवतीत्यच्युतो युक्तं तद्दानं तत्कृतेऽकरोत् ॥

एवं सेवक हैं। अमृतका वितरण हो रहा है।

हाथमें गाय-हाँकनेकी छड़ी लेकर मैया दौड़ी। श्रीकृष्णने भलीभाँति उसका भाव भाँपकर भीतके समान भागना प्रारम्भ किया। योगियोंका तपःपूत अतएव प्रवेशक्षम मन भी जिनको प्राप्त नहीं कर सकता, पकड़नेके लिए माँ उन्हें खदेड़ रही है।

श्रीकृष्णनिष्ठ स्नेह और मातृनिष्ठ स्नेहमें स्पर्धा हो गयी। माँने मनमें विचार किया कि मैं अपने शिशुकी सब बुरायाँ सह सकती हूँ परन्तु खलसङ्गति नहीं, इसलिए गाय हाँकनेवाली छड़ी लेकर दौड़ी। श्रीकृष्णने कहा—जिसके मनमें क्रोध है उसकी बुद्धि चाहे कितनी अच्छी हो, मैं उसको मिल नहीं सकता। तमोगुणी, रजोगुणीसे दूर रहना चाहिए। इसलिए मैं भागता हूँ।[1]

श्रीकृष्णके पीछे-पीछे दौड़नेमें भी माताकी विशेष शोभा है। विजयध्वजतीर्थने 'अन्वञ्चमाना' पदका विवरण करते हुए कहा है कि यशोदाके दौड़नेमें एक पूजनीय गति है। हंसीके समान चल रही है। 'अञ्चु' धातुका अर्थ गति और पूजा है। भगवान्‌के पीछे दौड़ने मात्रसे ही केशके बन्धन टूट गये; प्रसूना—हिंसाके भाव च्युत हो गये। अन्तः-करणकी शुद्धि हो गयी। सन्तकी अनुगतिसे कल्याण होता है, भगवन्तकी अनुगतिसे तो कहना ही क्या? अनुगतिका फल है श्रीकृष्णका स्पर्श।

माँने पकड़ लिया। जगत्‌का स्वामी—जिसे कभी कोई अपराध छू नहीं सकता, आज अपराधीके कटघरेमें खड़ा है। फफक-फफककर रो रहा है। एक हाथसे बार-बार नेत्रोंके कज्जलमिश्र अश्रु पोंछ रहा है। भय-विह्वल नेत्र ऊर्ध्वमुख हो गये हैं। हाथ पकड़कर माँने धमकाया। यह सब भगवान्‌के रूप हैं—अपराधी, रोनेवाला, भय-विह्वल। जो उन्हें पहचानते हैं वे सब रूपोंमें पहचानते हैं। भगवत्स्पर्शी अपराध, रोदन और भय भी धन्य हैं। माँने पीटा नहीं, धमकाया—'मनचले! क्रोधी! लोभी! चञ्चल! चोर!' नये नाम रख दिये। 'ऐसा बाँधके रख दूँगी कि बाहर जा न सकोगे, माखन खा

---

१. अकृत्यमपि मे सर्वं सह्यमस्य परन्तु न।
उलूखलाङ्घ्रिभजनमित्यागात् सा सयष्टिका॥
श्लिष्यद्रोषं मनो यावत् तावदीशः पराङ्मुखः।
सूक्ष्मवेत्राश्रितस्यापि भवेदित्यभवत् स्फुटम्॥ (भ० रसा०)

न सकोगे, सखाओंसे मिल न सकोगे।' कृष्णने कहा—मैं तुम्हारा लगाया हुआ काजल भी पोंछ दूँगा। मैं तुम्हारे हाथसे आँसू नहीं पोंछवाऊँगा, स्वयं पोंछ लूँगा। वे अपने नेत्र स्वयं स्वच्छ करते हैं और उनकी क्रियासे यशोदाके नेत्र तथा उनमें भगवत्प्रतिबिम्ब स्वच्छ होता है। यही भक्तिकी विशेषता है। रजोगुण-तमोगुण नष्ट हो गये।

माताने छड़ी फेंक दी। बालकको भयभीत करना उचित नहीं। उसके प्रति भीषणता उचित नहीं है, वात्सल्य ही योग्य है। बाँधके रखनेका निश्चय किया। कृष्णने कहा—'मुझे ताड़ना मत दो।' माँने कहा— यदि ताड़नसे डरते हो तो आज दादी सासके समयका दधि-माण्ड क्यों फोड़ दिया?' कृष्ण—'अच्छा, अब ऐसा कभी नहीं करूँगा।' माँ—ले, छड़ी फेंक दी। देखिये, श्री विश्वनाथ चक्रवर्तीका श्लोक[1]—

श्री हरिसूरिने भक्तिरसायनम्में, माता अपने बलका प्रयोग कर रही है। स्नेहकी अधिकतासे, तो मैं भी अपना बल, स्नेहकी अधिकता दिखाऊँ। स्नेहपर स्नेह ही सफल होता है। रोदन ही शिशुका बल है, ऐसी उत्प्रेक्षा की है। मेरे नेत्रमें स्थित हैं सूर्य और चन्द्रमा। वे हमारे वंशके आदि भी हैं। उनके साथ कज्जल-कलङ्क, कालिमाका सम्बन्ध उचित नहीं है। अतएव स्वच्छ करते हैं। उन्हें उकसाते हैं—'तुम साक्षी हो। किसी कर्मके कर्ता नहीं हो। तुम लोग मेरी माँको यह बात समझा दो।'

श्रीभक्तिरसायनम्में श्री हरिसूरिने इस प्रसङ्गमें एक बड़ा ही सुन्दर भाव प्रकट किया है—मनुष्य चाहे जितना साधन-सम्पन्न हो, ओजस्वी हो परन्तु अपनी मलिनता मिटानेके लिए उसे दूसरेकी आवश्यकता होती है। प्रकाशमान सूर्य और चन्द्रमा सहस्रकर हैं। साथ ही, भगवान्के नेत्रके रूपमें अथवा नेताके रूपमें स्थित हैं तथापि भगवद्-हस्तावलम्बके बिना उनके कलङ्क-कज्जलका मार्जन नहीं हुआ।[2]

श्रीकृष्णने विचार किया कि सन्तोंने मेरी नाम-महिमाका संगीत गाया है कि 'श्रीकृष्ण' नाम षड्-

---

१. ताडने यदि तवातिशया भीस्तत् किमद्य दधिभाण्डमभाङ्क्षीः।
मातरेवमथ नैव करिष्ये पातया स्वकरोतो बत यष्टिम्॥

२. नानासाधनशालिनोऽपि पुरुषस्योजस्विनः स्वात्मनो
मालिन्यापहृताववश्यमपरापेक्षेति युक्तं यतः।
भास्वच्चन्द्रमसोः सहस्रकरयोरप्यत्र नेत्रात्मनो-
रासीदञ्जनमार्जनं न भगवद्धस्तावलम्बं बिना॥

रिपुओंका नाशक है। क्रोधका अवरोधक मैं सम्मुख खड़ा हूँ और माँके हृदयमें रोषका सञ्चार हो रहा है। यह मेरी नाम-कीर्तिके विपरीत है।' इसीसे श्रीकृष्णके नेत्र भय-विह्वल हो गये![1]

माँके हृदयमें वात्सल्यका उदय हुआ श्रीकृष्णको भयभीत देखकर। जैसे गैया-मैया जब अपने सद्योजात शिशुको मूत्रादिसे लथपथ एवं जरायु-परिवेष्ठित देखती है तो वह उसे चाटने लगती है, वत्सला हो जाती है, उसका हृदय वात्सल्य-स्नेहसे भरपूर होकर छलकने लगता है, वैसे ही यशोदा माताका हृदय वात्सल्यसे उल्लसित हो गया। उसने अपने हाथसे बछड़ेको डरानेवाली छड़ी फेंक दी। 'ठीक ही है, तभीतक हृदयमें जड़ता और हाथमें छड़ी रहती है जब तक चेतनका प्राप्ति न हो—पवित्र चेतनाका जागरण न हो। श्रीकृष्णका हाथ पकड़ना और अपने हाथमें जड़ छड़ीको रखना एक साथ शक्य नहीं है।'[2]

देखिये, श्रीकृष्णका हृदय। 'मुझे अपने हृदयकी गोदमें लेकर स्नेह-मोद देकर यदि कोई पुनः क्षुद्र कर्ममें लग जाय तो अवश्य ही उसकी अर्थ-क्षति और मेरी दूर-स्थिति हो जायगी। परन्तु यदि वह फिर मेरे पास लौट आवे तो मैं उसे सुलभ हो जाता हूँ।'[3]

'यद्यपि मैं बुद्धिके पेटमें अँटनेवाला नहीं हूँ तथापि जो दूसरे काम छोड़कर मेरा अनुगत होता है, मेरे पीछे-पीछे दौड़ता है उसे मैं सुलभ हो जाता हूँ।'[4] यशोदा माताने विचार किया—'गर्गाचार्यने अनामीको नामके घेरेमें ले लिया। श्रुतिके अनुसार नाम और दाम (रस्सी) एक ही हैं।

———

१. तवाभिधानं षडरिप्रभञ्जकं भुवीति सद्भिर्यदहं प्रकीर्तितः।
मयि स्थिते द्वेषिणि रोषसंभवः कथं जनन्यामिति ताहशेक्षणः॥

२. तावज्जडाश्रयो युक्तो न यावच्चेतनागमः।
युक्तं श्रेयंकरं धृत्वा सा जहौ यष्टिकां जडाम्॥

३. मदीयं सन्तोषं सुफलदमसम्पाद्य मनुजो
यदि क्षुद्रे किञ्चित्फलिनि दिनकर्मण्यभिरतः।
भवित्री तस्यार्थक्षतिरपि च दूरस्थितिरहं
पुनर्मद्गामी चेत् प्रतिपदमहं तस्य सुलभः॥

४. बुद्ध्यग्राह्योऽप्यहमिह सुलभस्तस्यास्मि यस्तु मदनुगतः।
उज्झितकर्मेत्याशयमबोधयन् मातृहस्तगो हि हरिः॥

अतः अब इसको बाँध लेना—दामोदर बना देना सुगम है।'[1]

माताके मनमें भगवान् श्रीकृष्णको बाँधनेकी इच्छा उदित हुई। ऐसा क्यों हुआ? भगवान्के स्वरूपमें बन्धन नहीं है। क्या यशोदा भगवान्के इस सामर्थ्यसे अपरिचित है? शुकदेवजी कहते हैं कि 'हाँ अपरिचित है।' तब क्या पूतना, तृणावर्त आदिके वधका ऐश्वर्य, वीर्य देखकर भी न पहचान सकी? यही प्रेमका सामर्थ्य है।' वह प्रियतमके माधुर्यको पहचानता है, ऐश्वर्यको नहीं। मूलमें कहा है कि भगवान्में भीतर-बाहर, पूर्वापरका भेद नहीं। वही बाह्याभ्यन्तर, पूर्वापर एवं जगत् भी हैं। वे अजन्मा और अव्यक्त हैं। इन्द्रियातीत हैं। फिर भी मनुष्य रूपमें प्रकट श्रीकृष्णको गोपीने रस्सीसे ऊखलमें बाँध दिया, मानो कोई प्राकृत शिशु हो।

श्रीधर स्वामीने कहा है—बन्धन तो तब हो जिसको बाहरसे चारों ओरसे लपेटा जा सके और वह रस्सीके घेरेमें आजाय। एक ओरसे रस्सी पकड़े और दूसरी ओरसे मिला दें। यहाँ भगवान् सर्वथा उसके विपरीत हैं। व्याप्य व्यापकको बाँध नहीं सकता और फिर दूसरा कोई हो तो बाँधे। जब भगवान्के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं तो कौन किसको बाँधे। फिर भी यशोदाने मनुष्य-रूपमें प्रकाशमान इन्द्रियातीतको अपना पुत्र मानकर बाँध लिया।

श्रीजीव गोस्वामीका अभिप्राय है कि श्रीकृष्ण व्यापक हैं इसलिए उनके बाहर कुछ नहीं है। बाहरके प्रतियोगीके रूपमें प्रतीयमान अन्तर भी नहीं है। पूर्वापरकी भी यही दशा है। वही जगत् है अर्थात् कारणसे अतिरिक्त कार्य नहीं होता। देश-काल वस्तु वही हैं। उनकी शक्तिसे ही जगत्की शक्ति है। ऐसी अवस्थामें उनकी शक्तिका एक क्षुद्र अंश रस्सी उन्हें कैसे बाँध सकती है? क्या स्फुल्लिग (चिनगारी) अग्निको जला सकते हैं? परन्तु यशोदा माताने कृष्णको बाँध लिया। वे अधोक्षज (इन्द्रियातीत) होनेके साथ ही-साथ मनुष्य-वेषधारी भी हैं। 'नारायणाध्यात्मम्'में कहा गया है कि 'अव्यक्त भगवान् अपनी शक्तिसे ही दर्शनके विषय होते हैं। उन्हें दूसरा कोई अपनी शक्तिसे नहीं देख सकता।' श्रुतिमें कहा है—'देवता और इन्द्रिय उसके बनाये हुए उत्पन्न हैं। वे अपने पूर्ववर्ती अनुत्पन्न कारणको नहीं जान सकते।' माध्वाचार्यने भगवान्को अस्थूल-स्थूल, अनणु-अणु एवं अवर्ण-

---

१. गर्गोक्तनामबद्धेऽस्मिन् सुकरं दामबन्धनम्।
इत्यैषीत् सा नामदामपर्यायैकार्थदर्शिनी॥

श्यामवर्ण कहा है। अर्थात् उनमें परस्पर विरोधी धर्म हैं। श्रीनृसिंह-तापनी श्रुति कण्ठतः घोषणा करती है—'तुरीयमतुरीयमात्मानमनात्मानमुग्रमनुग्रं वीरमवीरं महान्तममहान्तं विष्णुमविष्णुं ज्वलन्तमज्वलन्तं सर्वतोमुखमसर्वतोमुखम्'। तुरीय-अतुरीय, आत्मा-अनात्मा, उग्र-अनुग्र, वीर-अवीर, महान्-अल्प, विष्णु-अविष्णु, प्रदीप्त-शान्त, व्यापक-अव्यापक सब भगवान् ही हैं। गीतामें 'मत्स्थानि' एवं 'न च मत्स्थानि' एक साथ ही हैं। वे विरुद्ध-अविरुद्ध अनन्त शक्तियोंके निधान हैं और उनकी प्रत्येक शक्ति अचिन्त्य है। अतः बन्धनको असम्भावना और सम्भावना दोनों ही उनमें युक्तियुक्त हैं। दोनों एक साथ ही संगत हैं।

श्री विश्वनाथ चक्रवर्तीने यह आशय प्रकट किया है कि यद्यपि भगवान् वैसे ही हैं फिर भी उन्हें अनन्त प्रेमका, असाधारण वात्सल्यका विषय बनाकर माताने उन्हें बाँध दिया। बात यह है कि ईश्वरके अधीन सब है परन्तु ईश्वर प्रेमके अधीन है। भक्तिमें जो बाँधनेकी शक्ति है वह भी प्रभुकी ही शक्ति है। वे किसी औरसे नहीं, अपनी शक्तिसे हो बँधते हैं। प्रेम उनके ऐश्वर्यको आच्छादित कर देता है। वे प्राकृत नहीं हैं, चित्पुञ्ज हैं। फिर भी प्राकृतके समान बाँध दिये गये। यही प्रेमकी शक्ति है।

आचार्य वल्लभ बन्धन-प्रसंगपर प्रसन्न-गम्भीर विवेचन करते हैं। उनका कहना है—भगवान्‌में दोनों प्रकारसे बन्धनका अभाव सिद्ध होता है। पहला भगवत्स्वरूपका विचार और दूसरा बन्धनके साधनस्वरूपका विचार। देखिये, बन्धन दो काम करता है—बाहरसे निरोध और भीतरसे ताप। ये दोनों उसीको हो सकते हैं जिसमें अन्तर-बाह्यका भाव हो। भगवान् पूर्ण हैं। सबमें व्याप्त हैं। वे किसीके भीतर नहीं हैं। वे निरवयव हैं। अतः उनका कोई परिच्छेदक नहीं है। 'अन्तः' शब्दका अर्थ है—शब्द-सहित आकाश। उसकी प्रवृत्ति भगवान्‌में नहीं है। अर्थात् न भगवान् आकाशके अन्तर्गत हैं, न तो शब्दके विषय हैं। अन्तर्यामी ब्राह्मणके अनुसार वे ही सर्वान्तर हैं। फिर वे किसके अन्तर्गत होंगे जिससे वे उसमें बाँधे जायँ? आधार होनेपर तो किसीमें अन्तर्भाव हो ही नहीं सकता। दूसरी बात यह है कि बन्धन वेष्टनात्मक होता है। यह देश-परिच्छिन्नमें ही सम्भव है। निरवयव, अनिरुक्त, स्वयंप्रकाश, ज्ञातृ-ज्ञेय भावके द्वैतसे रहित परमात्मामें पूर्वापर या उत्तर-दक्षिण सम्भव ही नहीं है। अतः स्वरूपकृत, देशकृत, कालकृत या अन्यकृत बन्धन भगवत्स्वरूपमें सम्भव नहीं है।

अब बन्धन-साधनस्वरूपर विचार

कीजिये। रज्जु आदिके पूर्वापर भागमें यही विद्यमान हैं। स्वयं यशोदा इस सम्बन्धमें प्रमाण हैं कि उन्होंने भगवान् के मुखमें सम्पूर्ण विश्व देख लिया था। वे सबके बाहर और भीतर हैं। न केवल वे जगत् हैं, जगच्चय (जगतां चयः) हैं। जहाँ तक जगत्को गति है भगवान् उतने ही नहीं हैं। क्या जगत् जगदात्माको बाँध सकता है। स्वयं स्वको नहीं बाँधता। किसी भी प्रकारसे भगवान्में बन्धन नहीं है, यह सोचकर भक्त निश्चिन्त रहते हैं। परन्तु इस रूपमें लोग भगवान्को नहीं जानते। यदि वह अपनेको सर्वथा गुप्त ही रखे तो उसका स्वरूप किसीको ज्ञात नहीं होगा। अतः भगवान् स्वयं अपने परस्पर-विरुद्ध धर्मोंका बोधन कराते हैं; क्योंकि दूसरोंके समझानपर भी सन्देहकी पूर्ण निवृत्ति नहीं होती। मर्मज्ञ पुरुष अन्याभिनय-परायण नटके वास्तविक स्वरूपको पहचान लेते हैं परन्तु यह अधोक्षज (अधः अक्षजं ज्ञानं यस्मात्) प्रत्यक्षादि-जन्य ज्ञान जिसका स्पर्श नहीं कर सकते हैं जब-तक यह स्वयं अपनी पहचान स्वयं न करावें, क्या हो सकता है? अतः बद्ध-मुक्त सब यही हैं—यह प्रकट करनेके लिए बन्धन-लीला है।

यशोदा माताने ऊखलमें क्यों बाँधा? इस पर हरिसूरिकी उत्प्रेक्षा सुनिये—नामैकदेशग्रहण-न्यायसे उलूखल खल है। खल-सङ्ग छुड़ानेके लिए उसका अति सङ्ग ही कारण बन जाता है। अत्यन्त सान्निध्यसे अवज्ञाका उदय होता है। इस नीतिके अनुसार ही यशोदाने उलूखलमें बाँधा।[1] यशोदा मैयाने सोचा कि उलूखल भी चोर है; क्योंकि माखन-चोरी करते समय इसने कृष्णकी सहायता की थी। चोरका साथी चोर। इसलिए दोनों बन्धनके योग्य हैं।[2]

कविकी अन्तर्भेदिनी दृष्टि क्या देख रही है? ध्यान दीजिए। यशोदा माताने श्रीकृष्णको बाँध लिया, यह बात अलग रही तो ऐसा दीखता है कि श्रीकृष्णने ही यशोदामाता और ऊखल दोनोंको ही बाँध लिया। यशोदा भगवत्स्नेहमें बँध गयी और ऊखल कृष्णके साथ बँधकर दूसरोंके उद्धारमें समर्थ हो गया।[3] भगवत्स्व-

---

१. परिहातुं खलसङ्गमतितरखलसङ्ग एव हेतुरिति।
अतिसन्निकर्षशास्त्राज्जानत्येषा बबन्ध किमु तस्मिन्॥

२. अयं चोरश्चौर्यकर्मण्येतत्साहाय्यभागभूत्।
इतिवीक्ष्य द्वयोर्बन्धार्हतां तत्र बबन्ध तम्॥

३. सा बबन्ध तमित्यास्तां मन्मतं तु बबन्ध सः।
गोपिकोलूखले एव तमस्तन्तुगुणात् प्रभुः॥

रूपके बोधमें शब्दनिष्ठ शक्ति, योग, लक्षण और गौणी वृत्ति कारण होती है। ऐसा लगता है कि योगीन्द्र गर्ग और वेदोंने पहली वृत्तियोंसे बोध कराया और यशोदा माता गौणी वृत्ति (रस्सी) से जानना चाहती हैं।[1]

उपक्रममें ही यह अभिप्राय प्रकट कर दिया गया है कि महापुरुषकी कृपा ही भगवत्प्राप्तिका हेतु है। यशोदामाता इस रज्जु-बन्धन द्वारा ऊखल (खल)का भी श्रीकृष्णके साथ बन्धन-सम्बन्ध करनेमें समर्थ हैं। माता—महापुरुषके द्वारा भगवान्‌के साथ बाँधा गया ऊखल भी जड़ नलकूबरका उद्धार करनेमें समर्थ हो जाता है। बन्धन कुछ नहीं है। वह किसके द्वारा किसके साथ किया गया है—इसीका महत्त्व है।

अपना बालक है—इसलिए माताको बाँधनेका अधिकार है। पराया बालक होता तो उपेक्षा की जा सकती थी। कृष्णने अपराध किया है इसलिए वे बन्धनके योग्य हैं। श्री जीव गोस्वामी कहते हैं कि रस्सी जब पहली बार दो अङ्गुल कम पड़ी तो यशोदाने सोचा कि यह दैववश हुआ। परन्तु जब बार-बार दो अङ्गुल न्यून होने लगी तब विभुता-शक्तिका चमत्कार देखनेमें आया। प्रेम बहुत अधिक है परन्तु परिश्रमकी पूर्णता और कृपा-विशेषकी उपेक्षा है। अतएव सभी रस्सियाँ दो-दो अंगुल न्यून होती गयीं। विभुता-शक्ति भी इसलिए प्रकट हुई कि श्रीकृष्णके बाल्योचित हठकी लीला पूर्ण हो।

[परम पूज्य श्री स्वामीजीके 'भागवत-दर्शन' नामक ग्रन्थके भूमिका-भागसे यह लेख प्रकाशित किया गया है। यह महाराज श्रीकी रचना है। यह सर्वविदित है कि पूज्य श्री द्वारा सम्पूर्ण श्रीमद्भागवत महापुराणपर किया गया प्रवचन दो भागोंमें 'भागवत-दर्शन' नामसे प्रकाशित किया गया है। श्रीमद्भागवत तथा उससे सम्बन्धित सामग्री जो इस ग्रन्थमें संकलित है—अन्यत्र दुर्लभ है। ये दोनों खण्ड अत्यन्त उत्तम कागजपर छपे हैं। मूल्य मात्र दो सौ रखा गया है। सीमित संख्यामें है। ग्राहकोंकी माँग होनेसे यह संस्करण शीघ्र समाप्त होनेकी आशा है। अतः ग्राहकोंसे अनुरोध है कि वे अपनी प्रतियाँ यथाशीघ्र मँगानेका आदेश भेजें। इसकी प्राप्तिके लिए निश्चित राशि, सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट, 'विपुल' २८/१६ बी. जी. खेर मार्ग बम्बई-४००००६के पतेपर भेजें। —सम्पादक]

———

१. शक्तिर्योगो लक्षणा गौण्यपीति बोधे हेतौ श्रीपतौ तत्र चोक्तम्।
तद्बोध्यत्वं गर्गयोगीन्द्र-वेदैर्मन्ये गौण्या गोपिका ज्ञातुमैच्छत्॥

ज्ञानी भक्त उमर खैयाम

श्रीमती उर्वशी जयन्तिलाल सूरती

ग्यारहवीं शताब्दीमें 'उमर खैयाम'के नामसे प्रसिद्ध इरानका एक ज्योतिर्विद्, गणितशास्त्री, हकीम और राजदरबारमें सुलतानके सिंहासन-समीप नादीमके पद पर प्रतिष्ठित एक तत्त्वज्ञ होनेके साथ-साथ सन्तकवि भी था। इतिहासमें यह एक असाधारण विरल प्रतिभा है जिसके विषयमें परस्पर विरोधी अभिप्राय व्यक्त किये गये हैं और जिसकी रुबाइयतको विवादास्पद बना दिया गया है। वास्तवमें यह उसकी महानता है कि प्रत्येक देशकी सभ्यताको उसकी कवितामें अपने अनुरूप जीवन-दर्शन-की झलक मिलती है।

इतिहासके अनुसन्धाताओं और फारसीके विद्वानोंको एक तथ्य समान रूपसे उपलब्ध हो रहा है कि उमर खैयामने ग्रीक दर्शन और भारतीय वेदान्त एवं भक्ति-दर्शनका अध्ययन किया था। उसके दार्शनिक विचार और आध्यात्मिक साधना इनसे प्रभावित थे। उसने अपनी सूफियाना शैलीमें परम सत्य परब्रह्म तत्त्वका निरूपण किया है और परम प्रिय परमात्माके प्रति प्रेमाभिव्यक्तिके माध्यमके रूपमें अनेक रुबाइयात लिखी हैं।

यहाँ पर अधिक विस्तारमें न जा कर मुख्य रूपसे उसकी परमात्म-प्रेमपरक स्तुतियों एवं ब्रह्मज्ञान-निरूपणके लिए लिखी गयी रुबाइयात का रसास्वादन करेंगे। (श्री बी० एम० दातार लिखित 'ग्रेस ऑफ नेक्टार'में सङ्कलित अध्याय १ की ५९ रुबाइयात, जिसका शीर्षक है— सन्त सद्गुरु और परमात्माकी स्तुति।

इन स्तुतियोंमें परम पूजनीय सद्गुरुकी स्तुति और प्रार्थना, सन्तोंकी महिमा, परमात्माकी शक्ति, शील और सुन्दरता, संसारकी असारता और जीवकी अज्ञानता, भगवद्-प्रेम और व्यक्ति-अहंका विलय, समर्पण और बलिदान, ज्ञानस्वरूप परमात्मासे प्रकाशकी याचना, भगवद्विरहकी वेदना और मिलनका आनन्द, अधिकारी साधक और अनिर्वचनीय तत्त्व आदि अनेक आध्यात्मिक-तात्त्विक पहलुओं पर उमरने अपने विचार व्यक्त

किये हैं। उसकी दृष्टिमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है सन्त, सद्गुरु और परमात्माकी कृपा प्राप्त करना, उनसे प्रेम करना और प्रेम पाना।

जिज्ञासु-मुमुक्षु उमर खैयाम सद्गुरुको प्रार्थना करता है—'हे सद्गुरु! आपके कृपालु चरणारविन्द अध्यात्मकी उच्चतम भूमिका पर पहुँच चुके हैं। आप ही इस सृष्टिमें छिपे हुए सर्वव्यापक स्रष्टाका ज्ञान करानेमें समर्थ हैं। आपका अंगुलि-निर्देश भी इस उद्देश्यकी सिद्धिमें समर्थ है। मेरे द्विधाग्रस्त मनरूपी खण्डित चन्द्रको परिपूर्णसे एक करके परम शुद्ध कर दो, उसके कलंकको अपनी कृपावृष्टिसे प्रक्षालित कर दो!

सन्तकी कृपा साधकको परमात्मा-के धाम की देहरी तक पहुँचा देती है इसका अनुभव उमरने किया है—'जब सन्त इस शरीर रूपी मिट्टीके भवनको शुद्ध करते हैं तब वे इस जीवन-संग्राममें काम आनेवाले मनरूपी घोड़ेको पेटी कसके काबूमें कर लेते हैं और उसपर आरुढ़ होनेकी योग्यता देते हैं तब हम मनसे ऊपर उठ जाते हैं। सन्तकी कृपासे मैंने हे प्रभु! तेरी देहरी पर अपनी बैठक आरक्षित कर ली है। वहीं बैठे-बैठे मैं तेरा दर्शन करनेके लिए अपनी उनींदी लाल आँखोंको खुली रखके जाग्रत रहूँगा।'

परमेश्वरकी शरण पानेको अधीर उमर शरणागतिका गुर जानता है—'हे भगवन्! यदि तेरी ऐसी इच्छा हो कि मैं दुःखमें विलाप करता रहूँ तो वही सही। मेरे लिए वह दुःख भी मधुर है। मैं तेरे चरणोंमें प्रसन्नता पूर्वक धूलिवत् चिपक जाता हूँ। मैं नहीं जानता हे प्रभो! मुझे क्या प्रार्थना करनी चाहिए? तू मेरा त्याग करना ही चाहता है, तो जैसी तेरी मौज? मुझे सब स्वीकार है, वही मेरा आनन्द है।'

आत्मनिवेदनके बिना शरणागति अधूरी है। अतः उमर कहता है—'मेरे प्रभु, यह सच्ची बात सुन लो! मैं अत्यन्त विनम्रतापूर्वक प्रार्थना करता हूँ। मेरी स्थिति और जीवनका पूरा वर्णन करनेके लिए दो शब्द ही पर्याप्त हैं। मैं प्रेमपरवश तेरे चरणोंके तलुओंमें धूलिवत् बसना चाहता हूँ। तू जब मुझपर कृपा-करुणा करके मेरा अभिनन्दन करेगा, तभी मैं अपना सिर ऊँचा करूँगा।'

पूर्ण समर्पणकी भावनासे उमर धन्यता पाता है। वह अनन्यताके साथ विश्वास दिलाता है, 'मैं अपने प्रियतम रूपी रत्नको किसी कीमत पर अलग न करूँगा। मेरे दुःख-निवारणका यदि कोई उपाय है तो बस, तेरा प्रेम और विरह-वेदना ही पर्याप्त है। मैं तो तेरे द्वार पर धूलि हो जाऊँगा, अतः मुझे मुकुटकी अभिलाषा नहीं है। तेरे सम्बन्धमें विचार करते ही मैं सम्पूर्ण विश्व

और आकाशसे भी स्वयंको श्रेष्ठ पाता हूँ।'

'मेरा यह हृदय मात्र तेरे लिए दुःखी होता है। मेरी यह दृष्टि एक मात्र तेरे दर्शनके लिए पागल हो उठती है। तू बड़े-छोटेका भेदभाव कभी नहीं बरतता, मात्र प्रेम देखता है। तेरे सिवा अन्य किसी भी विषयके विचारसे मुझे सुख नहीं मिलता।'

विरहाकुल प्रेमी उमर अपने प्रियतम प्रभुको मीठे उपालम्भके स्वर-में कह रहा है—'ओ प्रिय! युगके युग कैसे बीत गये? तूने जबसे मुझे अपनेसे अलग करके अकारण ही संसारमें भेज दिया है, किसीको मेरी सुध लेनेको भी न भेजा? मेरी खोज-की परवाह भी न की? तेरे वियोगमें सन्तप्त मैं अतिशय कष्ट पा रहा हूँ।'

तेरा सङ्ग पाकर मैं दुःखमें भी दुःखके संयोगसे वियुक्त होकर आनन्द-मग्न रहता हूँ। परन्तु तेरी दूरी मुझे सन्तप्त-सा, पागल-सा कर देती है। जब तक तू मेरी दृष्टिमें बसा रहता है, यह विश्व मुझे 'मधु' प्रतीत होता है। परन्तु तेरे प्रकाशके अभावमें मैं इस विश्वका निर्ममतापूर्वक त्याग कर देता हूँ।'

'प्रारम्भमें तेरी कृपाने अपनी धारासे मुझे पुष्ट किया, स्वर्गीय प्रकाशसे पूर्णरूपसे आनन्दविभोर कर दिया। परन्तु अब तेरी उदासीनता और उपेक्षा मेरे लिए असह्य है। मेरे किस अपराधने तेरे स्वभावको इस प्रकार बदल दिया है?'

'तेरे मिलनरूपी आशाकी किरण-से वंचित मैं भग्नहृदय हो जाने पर ऐसा अनुभव करता हूँ, मानो मेरा जीवन धुएँसे भरपूर अन्धकारमय हो उठा है। तेरी झलक पानेके लिए मैंने अपनी शक्तिभर सारे प्रयत्न किये, परन्तु भाग्यकी एक ही चपेटने मुझे तुझसे बहुत दूर-दूर फेंक दिया।'

इस सम्पूर्ण विश्वमें तू अकेला मेरा आश्वासन है। तू मेरी आँख, मेरा हृदय और मेरी आत्मासे भी अधिक प्रियतर है। तू है मेरा जीवन स्फुलिङ्ग! तुझसे अधिक प्रिय कुछ भी नहीं है। मेरे पूर्ण प्रियतम! तुझे पानेके लिए मैं अपनी हजार-हजार जिन्दगियोंको कुरबान् करता हूँ!'

तेरे प्रेमी तेरी माया पर या तो मुग्ध हो जाते हैं या उसकी उपेक्षा कर देते हैं। तेरे रहस्यके ज्ञाता वायुकी एक लहरीके स्पर्श-मात्रसे आनन्दविभोर हो जाते हैं। तेरी आँखें तीक्ष्ण कटारी-सी वेधक दिखती हैं, परन्तु हे प्रिय! मेरी हत्याके लिए चाबुकके तस्मेसे ही काम चल जायेगा।

उमरने अपने प्रियतम प्रभुसे निष्कामताका उपदेश पाया जब वह शिकायत करने लगा—'हे प्रभो! इस मनने मुझे हमेशा दुःख ही दिया है।'

प्रभुने कहा—'ओ मेरे पुत्र! तू

अपने हृदयको मेरे अधिकारमें सौंप दे और ज़ुबानको अपने अधिकारमें रख !' तात्पर्य है, हृदयमें प्रभु बसे और जिह्वा नामजप करे।

उमर—'ओ प्रभो ! जब किसी दिन मेरा सद्भाग्य जगता है, मुझे तेरा दिया हुआ प्रसादका फल चखनेको मिल जाता है।'

प्रभु—'मेरे पुत्र ! फूल और फलकी कामना छोड़ दे, अन्यथा चीड़के वृक्षकी भाँति मात्र कष्ट पायेगा ! निष्काम हो जा !'

उमर प्रभुकी आवाज तो सुन रहा है परन्तु अभी सान्निध्य-सुखसे वञ्चित है। उसने विघ्नकर्ताओंकी शिकायत कर दी—'तेरे तथाकथित मित्रों (देवताओं, धर्माचार्यों) के प्रकाशकी प्रखरतासे मैं संतप्त हूँ। ये मुझे तेरे पास पहुँचने ही नहीं देते। मैं प्रार्थनापूर्वक तेरी खोजमें भटक रहा हूँ। ओ ज्ञानसूर्य ! तू सर्वत्र प्रकाशता है, फिर भी मैं तेरे प्रकाशसे कैसे वञ्चित रह गया ? तू मेरी आँखोंमें प्रवेश कर और मेरी आत्मा जो धूलिकणोंकी अपेक्षा अधिक महान् है एवं तेरी खोजमें व्याकुल है, उसे तेरा साक्षात्कार करा दे !'

'तू धनी-गरीब में भेदभाव नहीं रखता। तू सबको उपदेश करता है, परन्तु आश्चर्य है कि कोई उस पर ध्यान नहीं देता। तू नित्य प्रत्यक्ष है परन्तु संसारी जीव अन्धे हैं। इस अज्ञानताके कारण तुझ मनातीतकी खोजमें उन्होंने अपने मनको ही खो दिया है।'

'ये बहत्तर प्रकारकी मानव-जातियाँ ऐसी जटिल मन:स्थिति में हैं कि उनका व्यवहार भी विचित्र हो गया है। उनके मनमें उलझन है, बुद्धि अज्ञानतासे ग्रस्त है और सुखकी खोजमें दु:खकी अन्धकारपूर्ण खाइयोंमें भटक रही हैं। मूढ़तावश उनका मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। व्याकुल होकर प्रथम वे बड़बड़ाने लगती हैं और अन्तमें निराश-हताश होकर पागलपनमें चिल्लाती हैं। किसीको तेरे साथ जोड़नेवाली सही कड़ी हाथ नहीं लगती।'

'दु:खी जीवोंको विश्राम देनेके लिए सदा-सर्वदा तेरे हाथ सर्वत्र फैले हुए हैं। अपने प्रेमियोंके हृदयको सुख-दु:खकी गरमी-सर्दीके परस्पर विरोधी अनुभवोंके द्वारा शुद्ध करता है। मुझे क्या अपने हृदयकी वेदनाको तेरे सम्मुख शब्दोंमें प्रकट करना जरूरी है जबकि तू अनकहे दस हजार गुना विचारोंको जान भी लेता है ?'

प्रमादवश उमरने अपने अन्तरंग सखाका सन्निध्य खो दिया तब उसे विषाद और पछतावा हुआ—'जब उसने मेरा विरोध किया, मैं सह न पाया। वह तो मेरे साथ मित्रता निभा रहा था परन्तु मैं उसके हितभावको न समझ पाया। मैंने

उससे दूर भागनेका प्रयत्न किया और बादमें पुनः उसकी खोजमें सर्वत्र भटका। अबतक मुझे यह मान नहीं हो रहा है कि मैंने उसे खो कैसे दिया ?

उमर मनुष्य जातिको इस सखा-सम्बन्धका रहस्य बताता है—'मत सोच कि हम पञ्चभूत और प्रकृतिके बने हुए हैं। मेरा सखा ईश्वर ऐसा चतुर है कि कभी जाहिर नहीं होता। छिपे-छिपे सारी सृष्टिकी सेवामें उसे विशेष आनन्द मिलता है। रात-दिनकी योजना भी उसीने बनायी है। हमारे साथ वह कितनी निपुणतासे लुका-छिपीका खेल खेल रहा है ! जब हम खेलके समय अत्यन्त निकट, आमने-सामने थे, तब सर्वप्रथम शब्दोच्चारण हुआ। हमारी गूढ़ रहस्यमयता, हमारा मौन वार्तालाप कोई नयी बात नहीं है।

कभी-कभी उमर अनुभव करता था कि 'साधना में बाधाएँ बहुत हैं और मैं निस्साधन हूँ। परमात्माके पास कैसे पहुँचूँगा ?' तब वह अपनी असमर्थता प्रकट करके प्रार्थना करता — 'तेरे पवित्र स्थानपर पहुँचनेका कोई साधन मेरे पास नहीं है। तेरे वियोगमें न तो मेरे पास आत्मबल है कि मैं अपने दिन बिता सकूँ, न तो अपना दुःख व्यक्त करनेका मुझमें तनिक भी साहस है ! तेरे विषयकी कल्पना तो परम मधुर है, परन्तु तेरी प्राप्तिका मार्ग विकट है ! तुझ तक पहुँचनेके मार्ग अद्भुत हैं।'

ईश्वर का सब कुछ गूढ़, रहस्यमय और अद्भुत है। उसका प्रेम भी अत्यन्त गूढ़ है। परन्तु उसमें स्वार्थका लेश भी नहीं है। इसके विपरीत संसार में प्रेमीका अभिनय करनेवाले अत्यन्त स्वार्थी हैं— मेरे कोई संगी-साथी मेरा विलाप नहीं सुनते, क्योंकि मैं तेरे लिए निःश्वास छोड़ता हूँ। मेरे किसी मित्रको मेरी मृत्यु का समाचार नहीं मिला है, क्योंकि मैं तेरे लिए मरता हूँ। यदि मैं तुझे छोड़ कर संसारके अन्य लोगोंकी सूची बनाने लगूँ तो स्पष्ट हो जायगा कि मैं चाहे दुःखी होकर मर भी जाऊँ, वे लोग कभी मेरे लिए रोवेंगे नहीं।'

भगवद्विरह अत्यन्त तीव्र हो जाता तब उमर अपने प्राणों पर मृत्युका भय देखता—'रात्रियाँ बिताते समय विरहकी असह्य पीड़ामें व्याकुल होकर मैंने निःश्वास छोड़ा कि तुरन्त जैमिनी चमक उठीं। मेरा अन्तर तेरे मिलनके लिए आतुर हो उठने पर मेरी आँखोंसे अश्रुधारा बहने लगती है और उस समय नदियाँ समुद्रसे जा मिलती हैं। मानो सम्पूर्ण प्रकृतिमें विरहकी वेदना और मिलनकी उतावलीकी संवेदना व्याप्त हो जाती है। हे प्रभो ! तुमने वादा किया था, 'कल मैं तुझे मिलूँगा।' मैं नहीं जानता, तब तक मैं जीऊँगा या मर जाऊँगा।'

'तेरी विरह-वेदनासे व्याकुल मेरा हृदय जब दुःखके बोझसे दब जायेगा, तब मेरे प्राणोंको बाहर कूद जानेके लिए सौ-सौ द्वार खुल जायेंगे। परन्तु श्रेयस्कर यहीं है कि कल्पित मायारूपी गिद्धके हाथों अपनी आत्माको सस्तेमें बेच देनेकी अपेक्षा मैं इसी समय तेरे लिए अपना बलिदान कर दूँ।'

महाकाल प्रलयका रूप धारण करता है तब उसका रूप कितना भयानक होता है। इसकी कल्पना भी मानव-हृदयको दहला देती है। उससे मुक्ति ईश्वरकी शरण ग्रहण करने पर ही सम्भव है। उमर ऐसी स्थितिमें एक बालकवत् हो जाता है—'समयके प्रवाहमें देशका मटियामेट हो जाना स्वाभाविक है। सूर्यके विनष्ट हो जाने पर प्रकाशके बदले अन्धकार छा जायेगा। ऐसी स्थितिमें मैं तेरा अञ्चल पकड़ लूँगा और हे मेरे प्रिय स्वामिन्! मेरे इस प्रश्नका उत्तर मिल सकेगा कि तूने अपनी सृष्टिमें इतनी अधिक कठोरता और दृढ़ता क्यों निर्मित कर दी है?

उमरको बड़ी चिन्ता है कि अन्धकारमें प्रभु-मिलन कैसे होगा?—'ओ प्रिय! कौन तुझे मेरे पास इस रात्रिके समय ले आयेगा? कौन सिवा तेरी कृपाके तेरे प्रकाशको निरावरण करेगा?, इस प्रकारकी दशा में मुझे तेरे विरहमें कौन जलाता है? पर्वतसे आनेवाले अनामन्त्रित झोंकेकी भाँति कौन तेरी कृपाको मुझ तक ले आयेगा?'

उमर भौतिक अस्तित्वकी सीमाओंमें स्वयंको अवरुद्ध पाकर आशंकासे विह्वल और शोकमग्न हो जाता था कि इस जीवनमें प्रभुमिलन नहीं होगा क्या?—'मेरा शोकाकुल मन तेरे सिंहासनका स्पर्श भी नहीं कर पाता। इसलिए मैं इस धरतीको ही चूमता हूँ और इस प्रकार अपने पापोंका प्रायश्चित करके अन्तःकरणको शुद्ध करता हूँ। ओ अद्भुत सुन्दर! तेरे रूपको कौन जान सकता है? शायद तू अकेला ही अपना सम्यक् ज्ञान रखता है, क्योंकि तू स्वयं प्रकाश है।'

परमात्माकी खोज एक दुर्गम आध्यात्मिक यात्रा है और एक जीवको इस खोजको पूरी करनेमें अपने अनेकानेक जीवनकी बलि चढ़ानी पड़ती है—'कितने जीवन खो गये और कितने हृदय निष्फल हुए तेरी खोजमें? काश, वे तुझे अविलम्ब अपने सम्मुख देख पाते! परन्तु हाय! इस आकाशके नीचे किसी भी प्राणीके पास तेरे दर्शन करनेमें समर्थ आँखें नहीं हैं। यह जगत् अन्धकारपूर्ण और दुःखमय है, तू इससे निराला प्रकाश और आनन्दसे भरपूर है।

उमरने प्रभु-मिलनके पूर्व भी

उसके प्रकाशकी झलक पायी थी। प्रकाश मिलता गया और अन्धकार मिटता गया! अन्तमें अन्धकारकी कहीं छाया तक नहीं दिखी—'रात्रिके अन्धकारमें तेरी उपस्थिति मेरे जीवनको दूर-दूर प्रकाशकी ओर ले जाती है। अब मैं उन्नत शिखरके ज्वाज्वल्यमान शिखरपर आपहुँचा हूँ। चाँद-सितारे मेरी ऊँचाई देखकर शर्मसे भले झुक जाय तू मेरी दृष्टिमें ऐसा बस गया है कि मैं नित्य-निरन्तर दिनका प्रकाश पाता हूँ, रात्रिका कहीं कोई संकेत नहीं है।'

'तेरे प्रकाशने मेरे दुःखी हृदयको आनन्दसे भर दिया है। अब अन्य किसीका मुख देखनेकी मुझे परवाह नहीं है, क्योंकि तूने मुझे किसीका मोहताज नहीं रहने दिया। तेरे मुखके दर्शनमें मुझे अपना मुख प्रतिबिम्बित मिलता है। मेरे आत्म-दर्शनमें मैं तुझे पा लेता हूँ।' प्रेमाद्वैतका यह आनन्द ही प्रकाश है।

'तेरे कपोलोंके तेजसे स्वर्गीय गरुड़ तेजस्वितासे युक्त है। तेरे मुखके प्रकाशमें सारी आकृतियाँ दृश्यातीत हो जाती हैं। बेबिलोनियाके राजाको तेरी सूक्ष्मदर्शी दृष्टिके प्रतापसे अपने घोड़े, सेना और किले भी प्राप्त हो गये। मैं इन सब बातोंको सत्य मान-कर इनमें विश्वास करता हूँ।'

'इस विश्वासघाती संसारमें, जहाँ मैं बड़ा हुआ, मैंने अपने विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थोंका गहन अध्ययन करते हुए तेरी खोज की। तू प्रकाश है! ऐसा प्रकाश जो नित्य चमकता है!! तू सत्य है! ऐसा सत्य जिसका मैंने हमेशा आख्यान किया है।'

उमर जब अपने मनकी स्वच्छ-न्दता देखता, उसे डाँट देता और परमात्माकी ओर उसे मोड़ देता—'मेरे प्रफुल्ल हृदयमें वह मानो ऐसे व्याप्त हो गया जैसे शून्य! उसके स्थानपर मृत्यु-सूचक दुर्बल-मलिन मन दुःसाहसपूर्वक चञ्चल हो उठा तब मैंने उसे डाँटा—ओ मूर्ख! चुप!! तू क्या उस शून्यस्वरूप पूर्णब्रह्मसे स्पर्धा करेगा? तू इतना भी नहीं देख पाता कि कण-कणमें वही प्रका-शित है?'

उमर पूर्ण दृढ़ताके साथ कहता है कि परमात्माका प्रतियोगी कोई नहीं है—'प्रभु! तूने आकाशकी योग्यतामें विश्वास करके नम्रतापूर्वक अपना सुन्दर मुख (सूर्य) दिखानेकी कृपा की, तब आकाश तेरे दर्शनके लिए अवकाशमें और भी ऊँचा उठ गया, परन्तु प्रातःने तेरी कृपाके साथ स्पर्धा करनेका प्रयत्न किया, जिसके फलस्वरूप दिन चढ़ते-चढ़ते वह तेरी अवकृपाको प्राप्त हुआ।'

परमात्माका सम्पूर्ण रूपसे जान लेनेका अभिमान कोई नहीं कर सकता—'तेरी उदात्त उत्कृष्टता तक किसी समझदारीकी पहुँच सम्भव

नहीं है, क्योंकि विचारकी गति मात्र देश और कालकी मर्यादामें सीमित है। कोई जीव तेरी पूर्णता ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं है। ओ परमात्मा! तू अकेला ही अपनी उत्कृष्टताके विरल मानदण्ड पर प्रतिष्ठित है।'

इन्द्रियातीत परमात्माकी कृपा ही मुख्य है—'तेरे पवित्रतम स्थान तक किसी आँखकी साक्षीकी पहुँच सम्भव नहीं है। तेरे समीप पहुँचनेके मार्गोंको पाप या सद्गुण अवरुद्ध नहीं कर पाते। अतः मैं पापी होकर भी तेरे पास गम्भीर आशाके साथ आनेका प्रयत्न करता हूँ, क्योंकि मुझे पूर्ण रूपसे केवल तेरी ही कृपाका भरोसा है।'

उमरने विनम्रभावसे शरणागति ली और आत्मनिवेदन किया—मेरा जीवन, शरीर और मेरी समग्र शक्ति तू ही है। तू ही मेरी आत्मा है और तू ही मेरा हृदय है। तू ही मेरा अस्तित्व और एक मात्र आश्रय है। मैं स्वयंको तुझमें विलीन कर देता हूँ। अंग और अंगी दोनों तू ही है।'

आत्मनिवेदनकी स्थितिमें उमर अपने व्यक्ति-अहंका लय कर देता है—'मैं जीवित प्रतीत होता हूँ, परन्तु मेरे अस्तित्वमें परिपूर्ण तत्त्व-स्वरूप तू ही ओतप्रोत है। तुझसे रहित मैं क्या हूँ? कहाँ हूँ और कब हूँ? (कुछ भी नहीं, कहीं नहीं, कभी नहीं)। तू ही था, तू ही है और हमेशा तू ही रहेगा। तुझसे रहित मैं नगण्य और निरर्थक हूँ।'

यह पाञ्चभौतिक जगत् परमेश्वरके सगुण-साकार रूपका ही विलास है, यह देखकर उमरने स्तुति की—'कोई तेरा मुख न देख सके इसलिए तू प्रायः निर्गुण-निराकार होकर छिपकर रहता है और कभी-कभी देश-कालकी मर्यादामें अवतरित होकर सगुणसाकार रूप धारण कर लेता है। यह है तेरा ऐश्वर्य! अपने मनोरंजनके लिए जब तू लीला करता है तब तेरा ऐश्वर्य प्रगट हो जाता है। तू परमकृपालु है और तुममें ही द्रष्टा, दृष्टि और दृश्य समाये हुए हैं।'

ऐश्वर्य अर्थात् अधिकार और स्वामित्व। संसारमें यह मदान्धताका रूप धारण कर लेता है, परन्तु ईश्वरमें इसका मद नहीं होता—'तू छोटी-सी चींटीको भी देखनेकी दृष्टि देता है और शक्तिहीन तुच्छ जन्तुके घुटनोंमें उड़नेकी शक्ति देता है। सम्पूर्ण विश्वसृष्टिके शासनके लिए तू ही एकमात्र अधिकारी स्वामी है। अनौचित्यके लक्षणसे तेरा दूरका भी नाता नहीं है।'

जो परमात्माकी इस सर्वशक्तिमत्ता और परम पावनताको जान लेता है वह अश्रद्धालु नहीं होता। उमरको ज्ञान था—एकमेवाद्वितीयम्' परब्रह्म परमात्मा सत्यस्वरूप है और सम्पूर्ण चराचर सृष्टिके रूपमें वही

प्रकाशित हो रहा है। यह ऐसा प्रकाश है जिसे जान लेनेपर निरीश्वर-वादीकी अनास्थाका अन्धकार प्रकाश-पूर्ण श्रद्धामें परिवर्तित हो गया।'

विश्वास, श्रद्धा, आस्था, अपनी आत्मसत्ताकी स्वीकृतिकी सूचक मनः-स्थिति है। अज्ञान होकर भी हमारा हृदय परम सत्ताकी ओर ही झुकता है, क्योंकि आत्मा-परमात्मामें अंश-अंशी-सम्बन्ध है। उमरने संसारके प्राणियोंका निरीक्षण करके यह सत्य पाया—'हे प्रभो संसारके प्राणी रहस्यमय हैं, क्योंकि तू परम रहस्य-मय प्रत्येक प्राणीके अन्तरमें छिपा हुआ है। प्राणियोंके रूप और लक्षणों-में तेरी ही आकृति-प्रकृति प्रगट हो रही है, परन्तु जीवत्वके आवरणमें तेरी यह विश्वरूप महानता छिप जाती है।'

परमात्मस्वरूपका ज्ञान होने पर उमर निश्चय कर लेता है कि वह प्रेम, प्रकाश और ज्ञानका खजाना है। 'मेरे जीवनका जोवन! तू नित्य प्रेमका झरना है। कहते हैं कि तेरा अपार ऐश्वर्य-पूर्ण प्रकाश तेरी दृष्टिको भी चौंधिया देता है। कोई इसे भले मजाक बताये, मैं इसकी सच्चाईमें पूर्ण विश्वास करता हूँ। तू मेरी आँखकी दृष्टि है, इसलिए मैं देखता हूँ। मुझे तेरा रहस्य मालूम है कि तू ज्ञानका भी प्रकाशक है, स्वयं प्रकाश ज्ञान है।

इस अनुभवसे उमरको यह भी निश्चय हो गया कि 'ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है।' वह परमात्माकी स्तुतिका अर्थ जानता है—'हे प्रभो! तू है सर्वशक्तिमान्, महाराजाधिराज! तेरे मार्गपर चलनेवाले प्रेमी तेरी स्तुति गाते हैं। मैं भी तेरी स्तुति करूँगा, परन्तु सत्यकी वाणीमें तेरे अद्भुत रहस्योंका प्रकाशन करते समय तू ही रहेगा, अन्य सारी वस्तुएँ खो जायेंगी।' इसका तात्पर्य है कि परमात्मा स्तुतिसे परे है। आगे उमर कहता है कि वह निन्दा-स्तुति, आदान-प्रदान आदि सारे द्वन्द्वोंसे विनिर्मुक्त अपनी अहैतुकी कृपाकी वृष्टि करता है। निष्कामताकी परा-काष्ठा माने परमात्मा।

सद्गुरुने उमरको शोकमग्न देख कर उसे सावधान किया परन्तु वह शोकमुक्त न हो पाया तब परमात्माको अपने प्रियतमके रूपमें पा सद्गुरु—'उसके कृपापूर्ण मार्ग आज तुझे दिखा दिये गये हैं।'

'परन्तु मैं शोक मानता रहा। उसने क्षणभर मेरी ओर अपनी कृपा-दृष्टि डाली और फिर मुझे छोड़ दिया। मैंने देखा कि वह अपनी कृपाका दान तो करता है परन्तु बदलेमें लेना भूल जाता है। ऐसा मेरा वह प्रियतम चिरञ्जीवी है।'

परमात्मामें प्रेम और कृपाकी सर्वोत्कृष्टताकी दृढ़ प्रतीति होनेपर

उमरके आत्मसिंहासनपर विराजमान गुरुदेवने प्रभुकी प्रेमचेष्टाओंका वर्णन किया—'ईश्वरने अपने प्रेम और कृपाकी वृष्टि करके रोज-रोज तेरा शृङ्गार किया है।' पुनः मार्मिक हास्यके साथ वे बोले—'स्वर्ग और नरक भी उसीने बनाये हैं।'

उमर यह सुन घबड़ाया और बोला—'परन्तु स्वर्गमें अतिशय भीड़ है, अतः वहाँ मैं नहीं रह सकता।' पुनः आश्वस्त होकर कहा—'अच्छा है, स्वर्गकी ओर मेरा रास्ता नहीं जाता।' इसके द्वारा उसने व्यञ्जित किया कि ईश्वरके प्रेम और कृपाके सम्मुख स्वर्ग-नरक महत्त्वहीन हैं। मुझे न स्वर्गका आकर्षण है, न नरकका भय! नरकमें भीड़ न होगी तो वह वहाँ जानेको प्रस्तुत है। स्वर्गमें तो पाखण्डी धर्माचार्योंकी भीड़ होगी और जिन धर्माचार्योंने ईश्वरके दीवानोंको सत्यवादी होनेके नाते नरकका भय दिखाया है, वैसे ईश्वरप्रेमी कम संख्यामें नरकमें मिल जायेंगे। वह यह भी सूचित कर देना चाहता है, इस संकेतके द्वारा कि—'ईश्वरके प्रेम और कृपाके बलपर नरकमें जाकर भी मैं उसकी यातनाओंसे पीड़ित होनेवाला नहीं हूँ। उसने मुझे जो प्रेम दिया है उससे जो सुख मिला है, उसकी तुलना स्वर्गसे नहीं हो सकती। स्वर्ग तो अत्यन्त तुच्छ है। इसमें स्वर्ग-नरकका खण्डन और दम्भी, अज्ञानी तथा कथित धर्म-गुरुओंकी कट्टरतापर करारा प्रहार है।

ईश्वर-कृपामें दृढ़ श्रद्धाके साथ उमर स्थापना करता है—'हे प्रभो! यदि हम मात्र तेरी उपेक्षा—उदासीनताकी ओर ही देखते रहते तो तेरी प्राप्तिके लिए हजारों उत्साही मन-मन्दिर झुलसकर नष्ट हो जाते। मुझ खैयामने तेरे चरणोंमें कृपापूर्वक शरण पा ली है, अतः मैं निश्चिन्त हूँ। मैं जानता हूँ कि तेरा शरणागत ध्रुव-तारकको दृढ़तासे नित्य चमकता है।'

परब्रह्म परमात्मा अमृत है, यह व्यक्त करनेके लिए उमर 'मधु' शब्दका प्रयोग करता है। 'ओ प्रभो! तू सर्वाधिक कृपालु है। तू आत्माको भी आत्मा है। भौतिक-दैविक दोनों विश्वसृष्टिका एकमात्र नियन्ता तू ही है। जो मात्र एकबार तेरे प्यालेका अमृत-घूँट पा लेता है, उसे कभी मृत्युके विष-प्यालेका कटु आस्वाद नहीं करना पड़ता।'

उमरको यह भी मालूम है कि अमृत, अमृतका प्याला और अमृत पिलानेवालेका त्रैत परमात्मामें नहीं है, वह स्वयं अमृतके रूपमें मिलता है, चाहे वह ज्ञानामृत हो या प्रेमामृत। उमर इससे यह निष्कर्ष पाता है कि परमात्मा निर्वैयक्तिक है, तो बिना मेरे निर्वैयक्तिक हुए उससे

तादात्म्य नहीं हो सकता। बिना तादात्म्यके मधुरामृतका आस्वाद सम्भव नहीं है—'हे परमप्रिय! मैं तेरी प्रतिमाकी पूजा करूँगा। और तेरे मधुपात्रमें-से प्रेमामृतका पान भी करूँगा। तेरे प्यारमें मैं अपने अस्तित्वको मिटा देनेके लिए खो गया हूँ, क्योंकि अपने व्यक्तित्वकी प्रतिष्ठासे जो आनन्द-माधुर्य मिलता है, उससे हजार गुना वह स्वयं मधुर है।'

इस मधुरको भगवत्कृतासे कोई अधिकारी साधक ही पा सकता है। सद्गुरु और भगवान् भी आत्मदानके लिए ऐसे विरले को ही पसन्द करते हैं—'प्रियतमा (अन्तर्यामी परमात्मा)को अपने हृदयकी धड़कन में प्राप्त करनेवाला हृदय कहाँ है? उसके कहे हुए गुह्य सत्यको श्रवण करनेवाले कान कहाँ हैं? उसके मुखकमलकी सुन्दरताको देखनेवाली आँखें कहाँ हैं? साधन-सम्पन्न अधिकारी साधक पर प्रभु हमेशा अपनी कृपावृष्टि करता है।'

कृपापात्र साधकको अपने अहंका विलय करना नहीं पड़ता, उसके अहंकी जड़ता ज्ञानसूर्य परमात्माकी ऊष्मासे द्रवित होकर बह जाती है तब वह अपनी आत्माको परमात्म-सूर्यकी किरण होनेका अनुभव करता है जो अपने मूल उत्सका परिचय दे देती है, उससे मिला देती है। उमर इसी अर्थको प्रगट करता है—चमकते प्रभावके द्वारा मेरे हृदयने तेरी उज्ज्वल प्रकाशमयी किरण प्राप्त की। परन्तु थोड़े ही समयमें उस किरणने मेरा त्याग कर दिया और वह तेरी खोजमें कहीं चली गयी अब मेरा हृदय मुझे भूल चुका है। उसने पहले तेरी किरण पकड़ी और अब तेरा लक्षण पाया।'

ऐसा आत्मविस्मरण ही प्रभुसे मिलाता है। उमर अपने प्रियतमके कृपाकटाक्षको पाते ही बेसुध-सा उसके चरणोंमें लोट-पोट हो जाता है—'सद्भाग्यसे जिस दिन हम मिलते हैं, परमात्म-रहस्यके ज्ञाता प्रेमी आस-पास नृत्य करते हुए मेरा अभिनन्दन करते हैं। परन्तु तू हो उस समय मेरी ओर देखता होगा। मैं थका-हारा तेरे पावनचरणोंमें गिरता हूँ और मेरा मधुप्याला तथा सिरकी पगड़ी रास्ते पर लोटते हैं।'

उमर जब इस भावावेशको पार कर गया, हृदय में धीरता-स्थिरता आयी, तब उसे दिव्य आनन्द मिला—'अब हम दोनों परस्परके हाथोंको पकड़े हुए इस प्रमोदाङ्गणमें तेजीसे घूम रहे हैं। यह युगल-गीत कैसा सुनायी देता है? मानो एक ही कण्ठसे गाया गया गीत। अपने-अपने केन्द्र पर घूमते हुए हम पूरे विस्तारमें विहार करते हैं। अन्तमें हम परस्परके आलिङ्गनमें बँध जाते हैं।'

मानवभावसे आविष्ट व्यक्ति परमात्माका साक्षात्कार करनेकी पात्रता

नहीं रखता। इसी तात्पर्यसे वह कहता है—'किसी मनुष्यने मेरी प्रियतमाके मुखका दर्शन नहीं किया है। ये कहे-सुने शब्द उससे सम्बन्धित काल्पनिक कथाएँ हैं। जिसने ये कथाएँ सुनीं, किसी एकसे सुनीं और परम्परासे वे सुनायी जाती रहीं, परन्तु सुनानेवाला स्वयं कभी नहीं जानता कि वह क्या बोल रहा है?' उमरने उन कथावाचकोंकी आलोचना की है जो भगवद्-रहस्यको बिलकुल नहीं जानते, परन्तु संग्रह-परिग्रहकी वृत्तिसे प्रेरित ज्ञानी होनेका दम्भ भरते हैं। वास्तवमें अनुभवकी अदामें परम्पराकी जड़ता नहीं है।

उमर मानव-मनमें होनेवाले सुख-दुःखको भक्त-भगवान्‌के बीच प्रेमी-प्रियतमामें चलनेवाले आँख-मिचौनीका खेल समझके रोते-झींकते और तकलीफ पाते हुए भी खेलके आनन्दका अनुभव करता है। परन्तु वह शिकायत किये बिना नहीं रह पाता—'तूने पहले तो मेरी प्रियतमा बनकर मुझे प्रसन्न कर लिया। अब तू मेरी उपेक्षा करता है? इस प्रकार मुझे नितान्त अकेला छोड़ देना तूने कभी नहीं चाहा, परन्तु विश्वभरमें तू मुझे दूर-दूर तक भटकाता रहा। तू क्या मेरे साथ आँखमिचौनीके खेलका आनन्द लूट रहा है?' वियोगकी कल्पना भी प्रेमीके लिए असह्य होती है।

मिलनके बाद परिचय गाढ़से गाढ़तर होता जाता है और नयी-नयी सूक्ष्म प्रियतमकी यशचन्द्रिकाके विकास-को लक्षित करती है। इसी प्रक्रियामें उमर स्थापना करता है कि उसका प्रियतम कूटस्थ है—'क्रमशः दस कानून, नव स्थितियाँ, आठ स्वर्ग, सात भूमिकाएँ, छह दर्शन ऐसा वर्णन-प्रतिपादन करते हैं कि 'पाँच इन्द्रियाँ, चार अन्तःकरण, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—ये तीन अवस्थाएँ और दो विश्वोंमें एक तू ही कूटस्थ है। यह सिद्धान्त सत्यकी स्थापना करता है।'

उमरकी भगवदासक्तिमें संयोगका आनन्द और वियोगकी वेदना बार-बार युगपत् व्यक्त होती हुई मिलती है—'हे प्रभु! दोनों विश्वसृष्टिको प्रकाशित करनेवाला प्रकाश तू है! तेरा नाम मुहम्मद है। तेरा स्थान अत्यन्त ऊँचा है। तेरी कृपाके सागर पर मेरा हृदय तरङ्गायित होता है और तेरे दर्शनके लिए व्याकुल मेरी आँखोंसे आँसूकी नदियाँ बहती हैं।'

कृपालु परमात्माका अतिक्रमण करनेवाली कोई सत्ता विश्वमें कहीं नहीं है—'तेरे नाममें सर्वोपरि साम्राज्यका अवतरण होता है। आकाश, मन्दिर और हृदय तेरे सिंहासन हैं। यह निश्चित है कि तू समान रूपसे सबका सेवक है। इसी-लिए तू ही मानव-जातिका नेता है।'

'जेहोवाहके ऊँचे गुम्बदवाले राजप्रासाद तेरे चरणोंसे सुसंस्कृत हैं

और तेरे द्वारपर उसके देवदूत तेरा अभिनन्दन करनेकी प्रतीक्षामें प्रस्तुत हैं।' परमात्माकी इस महिमाका रहस्य मात्र उसकी शक्ति, सुन्दरता और कृपा ही मुख्य हैं—'तू ही मानव-जातिके लिए वकालत करनेवाला सर्वसुलभ स्वामी है।'

यह है परमात्माकी निर्विशेषता, निर्वैयक्तिकता—'मैंने सोचा, तेरा वादा ही एक मात्र सत्य है। तूने क्या वादा किया था, मालूम है? वादा पूरा करनेको तू तत्पर रहता है। ओ तू आँखोंका प्रकाश! मैं तुझे कैसे पहचानूं? तू विश्वसृष्टिके कारणरूपमें धर्मनिरपेक्ष परम तत्त्वस्वरूप है। सम्भव है, तुझे न जाननेवालेके लिए तू सम्प्रदायकी परम्परा या मर्यादामें विश्वसनीय न हो पाये'।'

उमर खैयामने परमात्मासे प्रेम किया और उसका तात्त्विक ज्ञान पाया। पुनः तात्त्विक ज्ञानने उसके परमात्मप्रेमको पुष्ट किया और माहात्म्यज्ञानपूर्वक उसकी प्रेम-मधुराभक्ति गहन होती गयी। यह क्रम उमरके जीवनमें चलता ही रहा। मानो प्यास तृप्तिमें स्पर्धा छिड़ गयी! मधु, मधुवाला, प्याला और साकीके रूपक उसकी प्रेमानुभूतिको व्यञ्जित करते हैं तो कुम्हार, मिट्टी और घड़ा उसके तत्त्वज्ञानको। सूक्ष्मतापूर्वक उसकी रुवाइयातका अध्ययन इस निष्कर्षपर पहुँचाता है कि विभिन्न भाषा-भाषी अनुवादकोंने उमर खैयामकी रचनाओंमें अपनी-अपनी भावधारा और विचार-धाराके आश्रयमें उसे सही रूपमें समझनेमें गलती की। इसीलिए इस महान् तत्त्वविद् और भक्तहृदय सूफी सन्तकविकी रचना तीन-चार शताब्दियों तक तो उपेक्षित रही। बादमें उसकी व्याख्या करनेवालोंमें किसी मर्मज्ञने उसे सही रूपमे समझा है, परन्तु अधिकांश आलोचकों, अनुवादकोंने उसे भोगवादी बताया है। यह इस उदात्त प्रतिभाके प्रति सरासर अन्याय है। उसकी रुबाइयाँ इस सत्यकी प्रमाण हैं कि वह हृदयसे प्रभुके चरणोंमें समर्पित था, सत्यका प्रतीक था।

●

आश्रय धन घनश्याम जिहि सो कबु बने निरास।
जलद अनावृष्टिहु बुझवत चातक प्यास॥

चिन्ता तू चित क्यों करे विश्वम्भर व्रजपाल।
सक्कर सक्करखोर को दधि मधि देत दयाल॥

●

विमर्शनीयशांकरभाष्य : एक चिन्तन

विरक्तशिरोमणि श्रीवामदेवजी महाराज

चतुर्दश विरोध

न विद्मो न विजानीमोऽन्तःकरणेन यथैतद् ब्रह्म मन आदिकरणजातं अनुशिष्यादनुशासनं कुर्यात् प्रवृत्तिनिमित्तं भवेत् तथाऽविषयत्वात् न विद्मो न विजानीमः। (केन १.३ वाक्यभाष्ये) इन भाष्य-पंक्तियोंमें ब्रह्म मन आदिको कैसे प्रेरित करता है, यह हम नहीं जानते—ऐसा आचार्य कह रहे हैं। किन्तु केन १.१ में इच्छामात्रसे प्रेरित करता है ऐसा स्वयं ही जब बता चुके हैं तब नहीं जानते ऐसा क्यों कहते हैं? तथा हि—इषितमिति तु······ इच्छामात्रेण प्रेषितमित्यर्थः (केन १.१ पदभाष्ये) यहाँ यह भी विचारणीय है कि इच्छामात्रसे प्रेरणा करनेवाला अपर ब्रह्म ही हो सकता है। किन्तु आचार्यने इस खण्डको परब्रह्मका प्रतिपादक माना है। तथा हि—केनेषितम् इत्याद्योपनिषत् परब्रह्मविषया वक्तव्या··तस्माद् दृष्टादृष्टेभ्यो बाह्य-साधनसाध्येभ्यो विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषया ब्रह्मजिज्ञासेयम् 'केनेषितम्' इत्यादिश्रुत्या प्रदर्श्यते (केन पदभाष्योपोद्घाते)।

विरोध-परिहार

विरोध-प्रदर्शक विद्वान्ने भाष्यवाक्योंका प्रमाण देते हुए यह सिद्ध किया है कि भाष्यकार एक वाक्यसे यह कह रहे हैं कि ब्रह्म, मन आदिको जिस प्रकार प्रेरित करता है उस प्रकारको हम नहीं जानते हैं। अन्य वाक्यसे कहते हैं कि 'इच्छा मात्रसे प्रेरित करता है' इस कथनसे प्रेरित करनेका प्रकार बताया जा रहा है। अतः परस्पर दोनों वाक्योंमें विरोध है। इसपर हमारा यह कथन है—प्रथमतो इषितमिति तु··इच्छामात्रेण प्रेषितमित्यर्थः इस प्रकारका वाक्य केन १.१के पदभाष्यमें नहीं है। अपितु इषितमिति तु विशेषणे सति तदुभयं निवर्तते कस्येच्छामात्रेण प्रेषितमित्यर्थविशेषनिर्धारणात् इस प्रकारका भाष्य-वाक्य है। विरोधमें उद्घृत वाक्यको इत्यर्थः कहकर समाप्त कर दिया है जिससे उद्घृत वाक्यका यह अर्थ प्रतीत होता है कि श्रुतिमें आये

इषित पदका 'इच्छामात्रसे मन प्रेरित किया जाता है' यह अर्थ है। जब कि वस्तुतः अर्थ शब्दपर वाक्यकी समाप्ति भाष्यमें नहीं है। किन्तु अर्थ शब्दका आगेके विशेष शब्दसे सम्बन्ध भाष्य वाक्यमें हैं। तब जिस वाक्यमें-से, बिन्दु देकर कस्येच्छामात्रेण प्रेषितमित्यर्थं इतना अंश ग्रहण कर, विसर्ग अपनी ओरसे लिखकर, वाक्य बनाया है तथा विशेष निर्धारणात् इतना अंश त्याग दिया है उस सम्पूर्ण वाक्यका अर्थ आगे लिखते हैं। अर्थ—मनका श्रुतिमें इषित विशेषण होनेपर, 'किस विशेष प्रेरक तथा कैसी प्रेरणा मन आदिकों-में है।' यह प्रेरक तथा प्रेरणा विषयक जिज्ञासा, प्रेषित शब्दको सुनकर होती है वे दोनों (तदुभयं) निवृत्त हो जाती हैं क्योंकि इषित शब्दसे, किसकी इच्छा-मात्रसे मन प्रेरित होता है ऐसे विशेष अर्थका निर्णय हो जाता है। अर्थात् किसकी इच्छा मात्रसे मन प्रेरित होता है यह अर्थ जान लेनेपर यह ज्ञान हो ही जाता है कि इच्छा मात्रसे मनका कोई प्रेरक है तथा इच्छा मात्रसे उसकी प्रेरणा होती है, तब किसी विशेष प्रेरक या कैसी प्रेरणा मनके प्रति है यह जिज्ञासा नहीं हो सकती किन्तु एवंभूत प्रेरक कौन है यह जिज्ञासा होती है।'

इसके पश्चात् भाष्यकार इस प्रकारका कोई अर्थ करे उसपर विचार करते हुए लिखते हैं कि—यद्येषोऽर्थोऽभिप्रेतः स्यात् केनेषितमित्येतावतैव सिद्धत्वात् प्रेषितमिति न वक्तव्यम्। यदि यहो (किसीकी इच्छा मात्रसे प्रेरित मन है) अर्थ श्रुतिको अभिमत होता तो केनेषितम् इतने वाक्यांशसे ही यह अर्थ सिद्ध हो जाता। तब प्रेषित शब्द नहीं कहना चाहिए था। परन्तु प्रेषित शब्द कहा है अतः उपर्युक्त अर्थ सिद्ध नहीं होता।

भावार्थ यह है कि विरोध-प्रदर्शक विद्वान्ने जिस प्रकारका वाक्यांश उद्धृत किया है उस प्रकारका पाठ 'महेशानुसन्धान-संस्थान'से प्रकाशित उपनिषद तथा आनन्दाश्रम पूनासे भाष्य सहित प्रकाशित केनोपनिषद्में भी नहीं है। जो पाठ है भी उसमें कहीं भी सिद्धान्त रूपसे भाष्यकारने यह नहीं कहा है कि मन इच्छा मात्रसे प्रेरित है। यदि उनका वाक्य तथा अर्थ मान भी लिया जाय तब भी इसका जैसा कि हमने प्रदर्शित किया है उसका स्वयं भाष्यकार निराकरण कर रहे हैं। क्योंकि ऐसा अर्थ तो प्रश्न वाक्यके इषित शब्दसे ही सिद्ध हो जाता है, प्रेषित शब्दके कहनेका कोई प्रयोजन नहीं रहता। विरोध-प्रदर्शक विद्वान्ने मनचाहा अर्थ निकालनेके लिए मनचाहा वाक्यांश बना लिया। परन्तु वे यह भूल गये हैं कि जिस इषित शब्दके अर्थबोधक वाक्य-अंशसे मैं यह अर्थ निकाल रहा हूँ, उस ही इषित शब्दसे पूर्व केन शब्द भी है। केन शब्दके

सहित इषित शब्दका अर्थ करनेपर तो यही अर्थ होगा कि किसकी इच्छा मात्रसे मन प्रेरित है अथवा किससे इच्छा मात्रसे मन प्रेरित है या कौन इच्छा मात्रसे प्रेरित करता है। केवल इच्छा मात्रसे प्रेरित करता है यह अर्थ तो सम्भव नहीं है। भाष्यकारने केन शब्दको दृष्टिमें रखकर लिखा है कि कस्येच्छामात्रेण प्रेषितम् अर्थात् किसकी इच्छा मात्रसे प्रेरित मन है। परन्तु विरोध-प्रदर्शक विद्वान्ने भाष्यके वाक्यसे 'कस्य' इतना पाठ त्यागकर 'इच्छामात्रेण प्रेषितम्' इतना पाठ लेकर विरोध-प्रदर्शन कर दिया जो कि कथमपि सम्भव नहीं। भाष्यकारने तो केनेषितं प्रेषितं मनः इस वाक्यका यह सारार्थ लिखा है— किं यथाप्रसिद्धमेवकार्यकारणसंघातस्य प्रेषयितृत्वं किं वा संघातव्यतिरिक्तस्य स्वतन्त्रस्येच्छामात्रेणैव मन आदि प्रेषयितृत्वमित्यर्थस्य प्रदर्शनार्थं केनेषितं पतति प्रेषितं मन इति विशेषणद्वयमुपपद्यते। अर्थ—क्या जो कार्यकारणसंघातनिष्ठप्रेरकत्वं प्रसिद्ध है वही मन आदिका प्रेरकत्व है, अथवा संघातसे व्यतिरिक्त किसी स्वतन्त्रकी इच्छामात्रसे मन आदिके प्रति प्रेरकत्व है। इस अर्थके प्रदर्शन करनेके लिए इषित तथा प्रेषित यह दो विशेषण सार्थक होते हैं, अन्यथा नहीं।

सारांश यह है कि भाष्यपर विचार करनेसे यह सिद्ध नहीं होता कि भाष्यकारने मन इच्छासे प्रेरित है ऐसा सिद्धान्तरूपसे कहा हो। अत एव यह नहीं कहा जा सकता कि इच्छा मात्रसे प्रेरक तो सगुण ब्रह्म हो सकता है न कि निर्गुण। जब इच्छा मात्रसे प्रेरक सगुण ब्रह्मकी आशङ्का ही नहीं तब यह विरोध दिखानेका भी क्या अवसर कि इस खण्डको भाष्यकारने परब्रह्मका प्रतिपादक माना है, सगुणका नहीं। इस प्रकार विचारसे यह सिद्ध हो जानेपर कि भाष्यकार मनको इसीकी इच्छासे प्रेरित नहीं मानते तो श्रुतिके अनुसार यह भाष्यकारका वचन निर्विरोध सत्य है कि ब्रह्म मन आदिको कैसे प्रेरित करता है, यह हम नहीं जानते।

१५वाँ विरोध

उद्धृतचक्षुषां च स्वप्ने आत्मदृष्टेरविपरिलोपदर्शनात्। तस्मादविपरिलुप्तस्वभावैवात्मनो दृष्टिः (बृ० ४.३.२३)। यहाँ यह प्रश्न होता है कि यदि स्वप्न में भी अन्धोंको रूपका दर्शन होनेसे दृष्टिको अविनाशी माना जाये तो स्वप्नमें उद्धृतजिह्व या मूक पुरुषों द्वारा बोलना एवं छिन्नपाद पुरुषों द्वारा गमन करना आदि क्रियाएँ भी होती हैं। ऐसी दशामें समान न्यायसे क्रियामें भी अविनाशीपना मानना होगा। यदि कहें कि "न हि द्रष्टुर्दृष्टेविपरिलोपो-

विद्यतेऽविनाशित्वात्" इस श्रुतिमें दृष्टिको नित्यता कही है इसलिए ज्ञानको अविनाशी मानते हैं 'तो न हि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' बृ० (४.३,२६) इस श्रुतिमें वक्ति (वचनरूप क्रिया) को भी अविनाशी कहा है। तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् ६.८ में भी स्वाभाविकी ज्ञानबल क्रिया च ज्ञान तथा क्रिया दोनोंको स्वाभाविक कहा है।

विरोध-परिहार

स्वप्नमें ऊद्धृतजिह्व या मूक पुरुषों द्वारा बोलने तथा अन्धोंको रूपका दर्शन होनेसे दृष्टिको अविनाशी भाष्यकारने नहीं माना। अपितु 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात्' इस श्रुतिके कथनसे दृष्टिको अविनाशी माना है। दृष्टिकी अविनाशिताको बुद्धिमें आरूढ करनेके लिए स्वप्नमें अन्धेका दृष्टान्त-युक्ति दी है। स्वप्नमें इन्द्रियोंका व्यापार तो होता नहीं। अतः चक्षुके व्यापारके बिना भी वासनावशात् जिस दृष्टिमें चाक्षुषत्वका आरोप होता है, वह आत्मदृष्टि है। चक्षुका व्यापार न होनेसे जन्यरूप दृष्टि तो सम्भव नहीं, चाक्षुषत्वके आरोपका अधिष्ठान नित्य आत्मदृष्टि न मानने पर स्वप्नमें रूपदर्शनकी अनुपपत्ति हो नित्य आत्मदृष्टिका निश्चय कराती है।

ऐसी शंका होना भी स्वाभाविक है कि समानन्यायसे पुनः उद्धृतजिह्व या मूक पुरुषों द्वारा स्वप्नमें गमनादि क्रिया होनेसे क्रियामें भी अविनाशीपना मानना होगा। परन्तु ऐसी शंका उचित नहीं। क्योंकि वहाँ जो कुछ क्रिया आदि प्रतीत हो रही है, वह अनित्य ही है, इस रूपसे ही प्रतीत होती है। उस प्रातिभिक क्रियाका अधिष्ठान नित्य क्रिया ही हो ऐसा नियम नहीं। क्योंकि असर्पभूत भी रज्जु, सर्पका, अरजतभूत भी शुक्ति, रजतका अधिष्ठान होती है। इसी प्रकार बोलना आदि क्रियाओंसे भिन्न चेतन आत्मज्योति ही बोलना आदिक क्रियाओंका अधिष्ठान है न कि क्रिया। नित्य दृष्टिकी तरह नित्य क्रिया भी आत्मामें माना जाना श्रुति-विरोधसे संभव नहीं।

श्रुति आत्माको विज्ञानघन कहती हैं। आत्मा विज्ञानघन तब ही संभव है, जब कि विज्ञानसे अतिरिक्त कुछ न हो तथा विज्ञानसे शून्य भी अणुमात्र स्थान रिक्त न हो। जैसे सैन्धव घनको सैन्धव घन तब ही कहा जाता है जब कि उसमें कोई स्थान सैन्धवसे रिक्त नहीं तथा सैन्धवसे अतिरिक्त द्वितीय वस्तु नहीं। अतः दृष्टि (ज्ञान) से अतिरिक्त क्रिया भी आत्मामें स्वीकार की जाय तो आत्माको ज्ञानघन कहनेवाली श्रुतिसे विरोध होगा।

प्रश्न होता है कि 'नहि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' इस श्रुतिमें वक्ति (वचन क्रिया) को भी जब नित्य कहा तो क्यों कहा ? इसका उत्तर है कि जिस चेतनको वाणीका भी वाणी कहा है वह चैतन्य ज्योति ही यहाँ वक्ति शब्दसे कहा है न कि वचन क्रिया। यही श्रुतिका अभिप्राय, केन खण्ड १ मन्त्र ४ के भाष्यमें प्रकट किया है। भाष्य वाक्य यह है 'सा हि वक्तुर्वक्तिर्नित्यावाक् चैतन्यजोतिःस्वरूपा न हि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यते इतिश्रुतेः। अर्थ—वह वक्ताकी वक्ति, नित्य वाक् चैतन्य ज्योतिस्वरूपा है; ऐसा ही 'नहि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यते' यह श्रुति कहती है।

उपर्युक्त प्रकारसे भाष्यके अनुसार वक्ति शब्दका अर्थ चैतन्यात्म-ज्योति है, वचन क्रिया नहीं। ज्ञानघन कहने वाली श्रुतिसे विरोध होनेसे भी वक्ति शब्दका वाच्य वचन क्रिया मानकर नित्यवचन क्रिया आत्मामें मानना सम्भव नहीं। इसी प्रकार दर्शनादि धर्मभेद प्रदर्शन करनेमें वाक्यका तात्पर्य न होनेसे भी ज्ञानसे अतिरिक्त वक्ति शब्दका अर्थ वचन क्रिया नहीं है। 'यदस्य जाग्रत्स्वप्नयोश्चक्षुराद्यनेकोपाधिद्वारं' से लेकर 'तत्र दृष्टयादि धर्मभेदकल्पना, विविक्षितार्थानभिज्ञतया' यहाँ तक भाष्यकारने बृहदारण्यक ४.३.२३ से ४.३.३० तकके वाक्योंका तात्पर्य इस प्रकार लिखा है कि 'धर्मभेद-प्रदर्शन करनेमें इन वाक्योंका तात्पर्य नहीं किन्तु इस आत्माको जाग्रत्, स्वप्नमें चक्षुरादि अनेक उपाधिके द्वारा चैतन्यात्मज्योतिस्वभावता ही दृष्टयादिके अभिधेयरूप व्यवहारको प्राप्त होती है, सुषुप्तिमें उपाधि-भेद (चक्षुरादि) के व्यापारकी निवृत्ति होने पर अनुद्भास्यमानता होनेसे अननुभाष्यमान स्वभाववाला भी आत्मज्योति उपाधिके भेदसे भिन्नकी तरह होता है। इस यथाप्राप्तके अनुवाद-पूर्वक सुषुप्तिमें आत्माकी विद्यमानता कही जा सकती है। श्रुतिके विवक्षितार्थके न जाननेसे ही धर्मभेदकी कल्पना होती है। यदि धर्मभेदकी कल्पना की जायेगी तो विज्ञानघन कहनेवाली श्रुतियोंसे विरोध होगा। अतः चैतन्य (ज्ञान) से अतिरिक्त वचनादि कोई नित्य या अनित्य क्रिया आत्मामें नहीं है।

स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च। यहाँ स्वाभाविकी शब्द नित्यका वाचक नहीं। किन्तु परमेश्वरकी ज्ञानबलसे जो क्रिया है वह स्वाभाविकी अर्थात् शरीरेन्द्रियादि साधन-निरपेक्ष है। न ज्ञान तथा क्रिया दोनोंको ही नित्य कहा है। किन्तु ज्ञानरूप बलसे ही उसके दर्शन श्रवणादिक होते हैं। जैसा कि श्वेताश्वतरमें कहा है कि 'पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' इत्यादि अर्थात् परमेश्वर चक्षु आदि निरपेक्ष ही दर्शन, श्रवणादि करता है। अतएव वाचस्पति टीका-

कारने ज्ञानवलेन क्रिया—तृतीया तत्पुरुषसमास माना है। अर्थात् ज्ञानवलके निमित्तसे परमेश्वरकी क्रिया होती है। जो नैमित्तिक है। वह क्रिया नित्य कैसे हो सकती है। अतः पूर्वोक्त विचारसे यही सिद्ध होता है कि आत्मा ज्ञानघन है। अत उसमें नित्य या अनित्य किसी क्रियाके लिए अवकाश नहीं। यदि उसमें कोई क्रिया प्रतीत होती है, वह माया (अविद्या) निमित्तक विवर्तमात्र है।

सोलहवाँ विरोध

गीता ३.२७ तथा १३.१९के श्लोक तथा भाष्यमें प्रकृति ही को सभी कर्मों का कर्ता (माना) कहा है, किन्तु सूत्र १.१.५में तथा सूत्र २.२.१में तथा इन दोनोंके भाष्योंमें प्रकृतिमें कर्तृत्वका खण्डन किया है। तथा हि—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः (गीता ३.२७)
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः (गीता १३.१९)
ईक्षतेर्नाशब्दम् (सू० १.१.५) रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्
(सू० २.२.१)

यदि कहा जाय कि सूत्रोंमें चेतन अनधिष्ठित स्वतन्त्र जड प्रकृतिमें कर्तृत्वका खण्डन किया है और गीतामें चेतन अधिष्ठित परतन्त्र प्रकृतिमें कर्तृत्वका मण्डन किया गया है। शांकर दृष्टिसे यह उत्तर ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि शांकर सिद्धान्तमें जैसा असंग तथा सर्वथा कूटस्थ सर्वशक्ति रहित चेतन माना गया है, उसमें प्रकृतिका संग होना तथा अधिष्ठातृत्वरूप विकार या शक्तिका होना सम्भव नहीं।

विरोध-परिहार

शांकर सिद्धान्त श्रुति-स्मृति-सूत्र सिद्ध है। अतः 'कूटस्थमचलं ध्रुवम्' गीता १२-३ 'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते चराचरम्' गीता ९-१०के अनुसार कूटस्थ निर्विकार परमात्मा हीसे अधिष्ठित प्रकृति चराचरको उत्पन्न करती है, यह शास्त्रीय सिद्धान्त है। अतएव परमात्मासे अनधिष्ठित प्रकृतमें कर्तृत्व नहीं, अधिष्ठितमें है। प्रश्न होता है कि कूटस्थमें अधिष्ठातृत्व तथा प्रकृतिसे संग सम्भव नहीं ? इस प्रश्नके विषयमें यह विचार उपस्थित होता है कि शास्त्र तो चेतनको कूटस्थ भी कहता है, प्रकृतिका अधिष्ठाता भी कहता है। प्रकृतिका अधिष्ठाता तब ही हो सकता है जब कि संग होगा, अतः संग भी सिद्ध होता है। किन्तु कूटस्थता, असंगता तथा इससे विपरीत अधिष्ठातृत्व और प्रकृतिका संग सम्भव नहीं। ऐसी दशामें शास्त्रैकप्रमाणवादी श्रौत सिद्धान्तको माननेवाले तो

शास्त्रकी बातको हृदयंगम करनेके लिए यही मानते हैं कि विरुद्ध दो पदार्थ भी यदि विषमसत्तावाले हों तो एक स्थानमें रह सकते हैं जैसे ऊषर भूमिमें शुष्कता तथा प्रातिभासिक जलसे आर्द्रता विरुद्ध होते हुए भी एक स्थानमें रहते हैं। इसी प्रकारसे चेतनमें परमार्थतः कूटस्थता तथा व्यावहारिक अधिष्ठातृत्व एक स्थानमें रह सकते हैं। पूर्वोक्त प्रकारमें कूटस्थ कहनेवाला तथा अधिष्ठातृत्व कहनेवाला दोनों शास्त्र सावकाश हो जाते हैं। इससे अन्य कल्पना शास्त्रीय नहीं अपितु अशास्त्रीय ही होगी।

सारांश यह है कि ऊषर भूमिमें वास्तविक शुष्कता तथा प्रातीतिक आर्द्रता है। उसी प्रकार चेतनमें वास्तविक कूटस्थता तथा व्यावहारिक (मायिक) अधिष्ठातृत्व तथा प्रकृतिका संग दोनों सम्भव होनेसे 'असंग तथा सर्वथा कूटस्थ सर्वशक्ति रहित चेतनमें प्रकृतिका संग होना तथा अधिष्ठातृत्वरूप विकार या शक्तिका होना सम्भव नहीं' इस शंकाका कोई अवकाश नहीं। इसको सिद्ध करनेके लिए ही भगवान् तथा श्रुतिने दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया···, मायां तु प्रकृतिं विद्यात्। त्रिगुणात्मक प्रकृतिको माया कहकर कथन किया है।

१७वाँ विरोध

१७वें विरोधमें परस्पर पुराणादि वचनोंका संन्यासके विषयमें विरोध दिखाया है परन्तु विरोध-प्रदर्शक विद्वान्ने तो भाष्यमर्मज्ञोंसे भाष्य या वेदान्त ग्रन्थोंके विरोधकी प्रार्थना की थी उससे उपर्युक्त विरोधकी असंगति होनेसे १७वेंका परिहार न लिखकर १८वें विरोधका परिहार लिखते हैं।

१८वाँ विरोध

ननुकृतप्रयत्नापेक्षत्वमेव जीवस्य परायत्ते कर्तृत्वेनोपपद्यते, नैष दोषः, परायत्तेऽपि कर्तृत्वे करोत्येव जीवः। कुर्वन्तं हि तमीश्वरः कारयति। अपि च पूर्वप्रयत्नमपेक्ष्येदानीं कारयति पूर्वतरं च प्रयत्नमपेक्ष्य पूर्वमकारयत् इति अनादित्वात् संसारस्येत्यनवद्यम् (सू० २.३.४२)

यहाँ यह आशंका होती है कि प्राणीकृत पूर्वकर्मासार इस समय साधु-असाधु कर्म करानेके कारण भले ही ईश्वरमे वैषम्य, नैघृण्यादि दोष प्राप्त न हों, परन्तु जीवके पुरुषार्थकी कोई गुंजाइश नहीं रह जाती, कारण कि प्राणी-कृत कर्मानुसार सर्वसमर्थ ईश्वर द्वारा शुभ-अशुभ संकल्प, वचन तथा कर्म करता हुआ उनका अतिक्रमण करके मोक्षके लिए पुरुषार्थ करनेमें असमर्थ जीव कैसे समर्थ हो सकता है ? मोक्ष प्राप्तिके लिए संकल्प तथा प्रयत्न भी तो तभी

हो सकेगा, जब जीवके पूर्वकर्मानुसार ईश्वर संकल्पका उदय कराके प्रयत्न करायेगा।

परिहार

विरोध-प्रदर्शक विद्वान्‌ने शंका की है। उसका परिहार, इसी सूत्र भाष्यमें भाष्यकारने किया है। वह भाष्य इस प्रकार है। 'परायत्तेऽपि हि कर्तृत्वे करोत्येव जीवः। कुर्वन्तं हि तमीश्वरः कारयति।' अर्थ—परमात्माके अधीन भी जीवका कर्तृत्व है पुनरपि जीव ही कर्ता है। क्योंकि करते हुए जीवको ही परमात्मा कराता है। न कि राजा आदिकी तरह। राजा आदिक करते हुए को नहीं कराते किन्तु करते हुएका कराते हैं। अर्थात् बैठा हुआ राजपुरुष राजाकी आज्ञासे उठकर कार्य करता है। वह मुख्य कर्ता नहीं। इस प्रकारसे न करते हुए जीवात्माको ईश्वर कर्त्ता नहीं बनाता। अपितु जिस प्रकार जल, अपने बीजोंसे उत्पन्न होते हुए गुच्छगुल्म जौ, गेहूँ आदिकोंकी उत्पत्ति कराता है। यदि बीज उत्पन्न नहीं होता तो उसकी उत्पत्ति बलात् नहीं कराता। उसी प्रकार अपने रागादिसे प्रवृत्त होते हुए जीवकी क्रियाको कराता है। अर्थात् उनकी क्रियाओंका कालादिके समान साधारण कारण है। रागादिसे रहित जीव स्वयं क्रिया नहीं करता तो ईश्वर भी नहीं कराता। अतः जीव ही रागादि वासनासे युक्त जब कर्ता होता है तब ईश्वर उसमें साधारण निमित्त बनता है। रागादि वासनाकी निवृत्तिमें जीवका पुरुषार्थ सफल है। अतएव मुक्ति तक भी पुरुषार्थ कर सकता है। यद्यपि ईश्वर सर्वसमर्थ है, परन्तु उस सामर्थ्यका प्रयोग जीवको बलात् क्रिया करानेमें नहीं करता। वह तो करते हुएको कराता है। अतः कोई विरोध नहीं।

●

- किस वस्तुको समझना सबसे कठिन है?
  स्त्री-चरित्रको।
- चतुर कौन है?
  जो स्त्री-चरित्रसे खण्डित न हो।
- दरिद्रता क्या है?
  असन्तोष
- छोटापन क्या है?
  दूसरेसे धन आदि माँगना।

कोजिये : अज्ञात मित्रके लिए

(महाराजश्रीका एक प्रवचन)

संकलन—के. जालान

नियम-पालन की कितनो आवश्यकता है हमारे जीवनमें— यह समझनेकी बात है। जो पहले ही कह देता है कि इसकी क्या आवश्यकता है, वह या तो कुसंगमें पड़ गया है या हमें कुसंगमें डालना चाहता है। जिसके पास अपने जीवन को नियमित करनेके लिए पाँच मिनटका भी समय नहीं है, वह कोई कठिन समस्या आने पर कष्ट सहकर उसका समाधान कैसे करेगा ? अपने जीवनमें नियम रखनेसे लाभ यह होता है कि पहले तो वह नियम पूरा हो, इसका ख्याल बार-बार आता है और फिर नियम पूरा कर लेने पर सन्तोष होता है कि आजका हमारा नियम पूरा हो गया। अंतः इन दोनों बातों पर ध्यान दो।

यह निश्चय करो कि प्रातःकाल भोजनके पहले हमको इतना नाम लेना है या पहले उठकर स्नान करना है या ध्यान करना है—कमसे कम पाँच मिनट जरूर ध्यान करना चाहिए। ऐसा नियम बना लेने पर पहलेसे ही ख्याल रहेगा कि अमुक समय पर इतने समय के लिए ध्यान करना है। ध्यान करोगे पाँच मिनट और उसका ख्याल बना रहेगा पच्चीस मिनट तक। इसमें 'हर्रे लगे न फिटकरी रंग चोखा आवे' की कहावत चरितार्थ होती है। अपने नियमका पालन करनेसे जो सन्तोष मिला, उसमें कुछ खर्च तो हुआ नहीं और सन्तोष मिल गया कि आज हमने अपने नियमका पालन किया।

तो, स्वयं नियम बनाओ और उसका पालन करो। यदि अपना नियम टूटता हो तो किसी बड़े-बूढ़ेको बीचमें डाल लो—भगवान्‌के सामने प्रतिज्ञा कर लो। जिसके जीवनमें कोई नियम ही नहीं है—वह चाहे जो बोल दे, चाहे जो कर ले, चाहे जो खा ले, चाहे जो ले ले— उसका जीवन तो बिल्कुल पशुके जैसे हो जाता है। जैसे गाँवमें पशु होते हैं, रास्तेमें चलते हैं, कहीं खेतमें हरी-हरी फसल उगी देखते हैं तो झट मुँह मार देते हैं, वैसे ही तुम भी कोई बढ़िया चीज देखो और उसमें मुँह मार दो तो तुममें और पशुमें क्या अन्तर है ? पशुकी तरह जीवन व्यतीत नहीं होना

चाहिए। यह जो आपके पास आपकी जाति है, आपकी सुन्दरता है, आपकी बुद्धि है, आपका धन है और भी बहुत कुछ है—वह सब क्या है? आपको उसका जो सुख है, वह सिर्फ अभिमानका सुख है। आप नोट कर लो।

ठीक है, आपके पास बहुत धन है। भगवान् उसको बनाये रक्खें आपके पास। लेकिन उस धनका सुख कहाँ है? हमारे पास इतना धन है—यह अभिमान ही आपका सुख है। अभिमानके सिवाय उसमें और कोई सुख नहीं है। ऐसे ही विद्याका अभिमान है, सुन्दरताका अभिमान है, जातिका अभिमान है, गलेका अभिमान है कि हमारा गला बड़ा सुरीला है। लेकिन उसमें सुख कुछ नहीं है। उसमें सुख है केवल अभिमानका कि हमारे पास इतनी बढ़िया चीजें हैं। लेकिन अभिमान टूटते तो देर नहीं लगती भाई! आग की एक चिन्गारी पड़ जाये चेहरे पर तो सुन्दरताका अभिमान चला जाये। अनजानमें कभी किसीसे कोई गलत काम हो जाय तो जातिका अभिमान चला जायेगा। कोई तुमको हरा देगा तो बुद्धिका अभिमान चला जायेगा।

एक संगीतज्ञ था। उसको अपने सुरीले गलेका बड़ा अभिमान था। वह संगीत प्रतियोगिताओंमें गाया करता था। एक बार कहीं प्रतियोगिता हुई तो उसका जो मुकाबला करनेवाला था, उसने पानमें एक ऐसी चीज मिलाकर उसको खिला दी, जिससे उसका गला हमेशाके लिए खराब हो गया। उस बातको १५-२० वर्ष हो गये।

तो, यह जो दुनियाँमें हम लोग छोटी-छोटी बातोंको लेकर उनको बड़ी समझते हैं और उनका अभिमान करते हैं, उसकी कोई कीमत नहीं। आपको दूसरा कोई तौल कर नहीं बता सकता, आप स्वयं अपने आपको तौलिये। आपके मनमें कोई अभाव है कि नहीं? आपके मनमें कोई पीड़ा है कि नहीं? जब आप स्वयं अपने मनके अभाव, पीड़ासे अशान्त हैं तो उस अभाव, उस पीड़ाको मिटानेके लिए कोई उपाय करना भी जरूरी है, कोई साधन करना भी जरूरी है। जब आपके शरीरमें कोई रोग आता है तब आप उसके लिए डाक्टरको बुलाते हैं, दवा करते हैं। अभी कल-परसों ही कोई मुझसे कह रहा था कि उसके घर में किसीको कोई रोग हुआ तो ४० हजार रुपये खर्च हुए। बादमें पता लगा कि वह बहुत साधारण रोग था और एक दिन अच्छा भी हो गया। परन्तु उसके लिए अस्पताल में भर्ती होना पड़ा, तरह-तरह की जांच करानी पड़ी और उन पर ४०-५० हजार रुपये खर्च हो गये—मानो खोदा पहाड़, निकली चुहिया।

तो आपके जीवनमें जो अशान्ति है, असन्तोष है, अभाव है दुःख-दारिद्रय है, यह आपके मनको सता रहा है कि नहीं? दुःख दे रहा है कि नहीं? फिर आप उसको दूर कैसे करना चाहते हैं? आपके शरीरमें कोई रोग होता है तो दवा करते हैं। अर्थकी जरूरत है तो सच्चाई या बेइमानीसे कमाते हैं। विद्याकी जरूरत होती है तो पढ़ते हैं। बुद्धिकी जरूरत होती है तो विद्वान्से मिलकर उससे सलाह करके, बढ़ाते हैं। लेकिन आपके जीवनमें जो अशान्ति है, दुःख है, शोक है उसको मिटानेके लिए आप कुछ करते हैं कि नहीं?

नारायण! आप अपने शरीरको चिकना रखने के लिए, कपड़ेको स्वच्छ रखनेके लिए कितना प्रयास करते हैं? एक दिन एक महिला हमारे पास बैठी हुई थी। चाय आयी और प्यालीमें-से एक बूंद चाय उसकी साड़ी पर छलक गयी तो बोली कि हमारे दस रुपये खराब हो गये। क्योंकि अब यह साड़ी लाउण्ड्री में जायेगी और दस रुपये उसके लगेंगे। तो, साड़ी पर एक बूंद चाय गिर जाती है तो आप दस रुपये खर्च करते हैं—लेकिन आपके मनमें जहर गिरा हुआ है, विष भरा हुआ है, उसको साफ करनेके लिए आप क्या साधन करते हैं? एक कपड़ेको साफ करने के लिए दस रुपये खर्च करते हैं और देहको चिकना करनेके लिए कितना साबुन, कितना तेल, कितना फुलेल, कितना स्नो-पाउडर लगाते हैं, इसका ठिकाना नहीं। मैंने देखा है कि बाल कहींसे उड़ जायें तो जैसे खेती होती है धानकी-वैसे ही बालकी भी रोपाई होती है। रोपाई करने के बाद फिर वह घटने-बढ़ने भी लगते हैं—आपको तो मालूम है! आजकल स्त्रियाँ अपना पूरा शरीर रङ्ग कर रखती हैं। पहचानमें ही नहीं आता कि इनके शरीरका रङ्ग क्या है! ऐसा साबुन है, ऐसा रङ्ग है कि वे उनके द्वारा पाँवसे लेकर सिरतक—सारे शरीरको रङ्ग लेती हैं। उनको देखकर लोग कहते हैं कि ओ हो—इनका शरीर तो सोनेका बना हुआ है।

कहनेका मतलब है कि आप शरीरको सुन्दर रखनेके लिए तो इतने तत्पर रहते हैं, लेकिन अपने मनके बारेमें आप एकदम असावधान हैं। कितनी गड़बड़ी आपके मनमें भरी हुई है और उसको दूर करनेके लिए आप कोई प्रयास नहीं कर रहे हैं। आप एक नजर अपने मन पर डालिये और देखिये कि कितनी चालाकी, कितनी बेईमानी, कितना छल, कितना कपट, कितनी कृपणता आपके मनमें भरी हुई है। उसको कभी आप तौल कर देखिये तो सही! यदि कहो कि वेदान्ती लोगोंकी तरह हम चाहे जहाँ

बैठ जाते हैं, चाहे जहाँ सो जाते हैं, चाहे जो खा लेते हैं, चाहे जो कपड़े पहन लेते हैं। इसमें क्या खराब है! जो होता है, वह होने दो! लेकिन ऐसा कहने वाले हिप्पी टाइपके वेदान्ती हैं, शास्त्रीय वेदान्ती नहीं हैं। वेदान्त-शास्त्रसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। जो तुम्हें अपने शरीरको स्वस्थ रखने, अपने अन्त.करणको निर्मल बनाने, अपने जीवनको मर्यादित रखनेमें रुकावट डालता है, वह कोई ज्ञान नहीं है। आप भले ही फोस देकर सीख आओ और जो मौज हो सो करो। हे भगवान्! जो मौज है, वह तो तुम पहले ही करते थे। फिर उसको सीखने क्यों गये? बहुधा पढ़े-लिखे समझदार लोग ही रास्तेमें पड़ते हैं। जो लोग आपको यह सलाह देते हैं कि आप पहले विचा-सागर ही पढ़ो या पञ्चदशी ही पढ़ो या चन्द्रोदय ही पढ़ो—उन लोगोंके दिमागमें यह बात जम गयी है कि इन पुस्तकोंको पढ़े-लिखे बिना आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती। लेकिन जो लोग दिमागमें ऐसा भरते हैं, वे गलत रास्ते पर हैं।

असलमें भगवान् के इस राज्यमें जो भी प्राणी पैदा हुआ है, वह जहाँ भी है और उसका जैसा भी ज्ञान है, जैसा भी आचार है, जैसी भी जाति है, वहींसे उसी रूपमें वह परमेश्वरकी ओर बढ़ सकता है। भगवान्के ही सब बच्चे हैं। सब बच्चोंको अपने बापकी गोदमें बैठनेका, उसकी नाकमें उङ्गली डालनेका अधिकार है। वे उसके मुँहसे ग्रास निकालकर खानेके हकदार हैं। ईश्वरके किसी भी बच्चेको ईश्वरसे मिलनेका हक है। वह जो भी हो, जहाँ भी हो, जैसा भी हो पतित-से-पतित हो, मूर्ख-से-मूर्ख हो, दरिद्र-से-दरिद्र हो, दीन-से-दीन हो, भगवान्का बच्चा है। वह भगवान्के सिवाय और किसका बच्चा है? इसलिए उसको भगावान्की गोदमें जानेका, चढ़नेका पूरा हक है। जो लोग यह कहते हैं कि केवल वेदान्त पढ़नेवालेको ही भगवान् मिलेंगे—वे बिलकुल गलत कहते हैं। पढ़ने-लिखने-के साथ भगवान्के मिलने-न-मिलनेका कोई सम्बन्ध नहीं है। परमहंस रामकृष्णने किस स्कूल-कालेजमें पढ़ा था? और भी बड़े-बड़े महात्मा लोग हैं। किसका-किसका नाम लेकर बतायें। हम नाम लेकर बता सकते हैं कि उन महात्माओंने किसी भी स्कूल-कालेजमें पढ़ाई नहीं की, विद्या प्राप्त नहीं की, किन्तु उनको ईश्वरकी प्राप्ति हुई। ईश्वर की प्राप्तिके मार्गमें बढ़नेके लिए आचरणकी कमी हो तब भी बढ़ सकते हैं, जातिकी कमी हो तब भी बढ़ सकते हैं, ज्ञानकी कमी हो तब भी बढ़ सकते हैं। ईश्वरका रास्ता अपने सब बच्चोंके लिए हमेशा खुला है। उसमें यह बोर्ड नहीं लगा है कि

'बिना इजाजत अन्दर आना मना है।' वहाँ तो सबके लिए इजाजत है, क्योंकि ईश्वर अपना घर है। अपना घर ही नहीं है, अपना आपा है, और अपने आपके पास आनेमें किसीको भी किसी प्रकारकी रुकावट नहीं होती। इसीसे भागवत-धर्मका कहना है कि—

नालं द्विजत्वं देवत्व-
मृषित्वं वासुरात्मजाः।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य
न वृत्तं न बहुज्ञता॥

भा.७.७.५१

परमेश्वरकी प्राप्तिके लिए ब्राह्मण होनेकी, देवता होनेकी, ऋषि होनेकी जरूरत नहीं हैं। भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिए अमुक जातिका, देशका तदाकार ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं है। भगवान् भारतीय अभारतीय सबको मिलते हैं। पतित और पावन सबको मिलते हैं भगवान्। इसलिए भगवान्‌के रास्ते पर चलनेमें आपको कोई रुकावट नहीं है। स्त्री-पुरुषका भेद नहीं है। लिङ्गका भेद नहीं है। उसमें गधे-गायका भी भेद नहीं है। दोनों परमात्माकी ओर चल सकते हैं।

आपको मालूम है कि जब श्रीकृष्ण भगवान् वृन्दावनमें होली खेलते हैं तो ग्वाल-बाल क्या करते हैं? वे श्रीकृष्णको पकड़ गधे पर बैठाते हैं और उनका चेहरा रङ्ग देते हैं। न जाने कैसा-कैसा चेहरा बना देते हैं उनका। लेकिन भगवान् बुरा न मानकर उनको प्यार करते हैं। स्वयं भगवान्‌ने ही यह कहा है कि जो अज्ञानी जीव हैं, उन अज्ञानियों के लिए भी परमेश्वरका मार्ग खुला हुआ है। आप गीतामें पढ़ते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य
येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा-
स्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

९.३२

आपने गीतामें यह भी पढ़ा है कि—

अपि चेत्सुदुराचारो
भजते मामनन्याभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः
सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

गी० ९.३२

दुराचारीसे दुराचारी भी भगवान्‌को प्राप्त कर सकता है। पापयोनिसे पापयोनि भी और अज्ञानीसे अज्ञानी भी भगवान्‌के मार्गमें चल सकता है। यह कठिन नहीं है, बहुत सुगम, बहुत सरल मार्ग है।

देखो, हमारे भगत लोग कोई अच्छा काम करनेके बाद बोलते हैं कि 'श्रीकृष्णार्पणम्'। इसका अर्थ है कि हमने जो अच्छा काम किया, यह सब श्रीकृष्णके अर्पण करते हैं। भागवत-धर्मकी एक बहुत बड़ी विशेषता है—आपके ध्यानमें न हो तो कर लीजिए। काम करनेके बाद भगवान्‌को अर्पण करना एक बात है। और

करनेके पहले भगवान्‌को अर्पण कर देना दूसरी बात है। यह दूसरी बात पहली बातसे उत्तम है। इसलिए आप करनेके पहले ही संकल्प कर लीजिए कि जो-कुछ करेंगे, भगवान्‌के लिए करेंगे। सूर्योदयसे लेकर सूर्यास्त तक और सूर्यास्तसे लेकर सूर्योदय तक २४ घण्टोंमें जो कुछ भी करेंगे—सब-का-सब पहलेसे ही भगवान्‌को अर्पित कर देंगे। प्रातः काल उठते ही यह संकल्प कर लो कि आज हम चलेंगे, भगवान्‌के लिए। आज हम बोलेंगे भगवान्‌के लिए। आज हम कमायेंगे भगवान्‌के लिए। आज हम भोजन करेंगे भगवान्‌के लिए। पहलेसे ही संकल्प कर लो, फिर करते समय याद रहे या नहीं रहे। बीच-बीचमें याद तो आयेगी ही कि आज हमने भगवान्‌के लिए संकल्प किया है। न याद आवे तो भी कोई बात नहीं। बस, आप पहले संकल्प कर लीजिए कि आज हम जो-कुछ कर रहे हैं—वह उस अनजाने प्रभुके लिए, उस अज्ञात मित्रके लिए कर रहे हैं। आपको वैदिक धर्मकी प्राणाली मालूम है कि नहीं? जब हम लोग तर्पण करते हैं तब यह कहते हैं कि जिनके वंशमें कोई नहीं है, वे लोग भी तृप्त हो जाँये। जिनके नामका कोई पता नहीं है, वे भी तृप्त हो जाँये। जब हम कुँआ बनाते हैं, बगीचा बनाते हैं, बावड़ी बनाते हैं, धर्मशाला बनाते हैं, अस्पताल बनाते हैं और उनकी प्राण-प्रतिष्ठा होती है, तब पण्डित लोग संस्कृतमें इस आशयका श्लोक बोलते हैं कि यह जो हमारा कुँआ है, यह जो हमारी बावड़ी है, यह जो हमारा बगीचा है, यह सबके लिए है, यहाँ तक कि पशु-पक्षी चींटीं-मकौड़ोंके लिए भी है। हम इसको सर्वात्मा प्रभुके प्रति समर्पित करते हैं। यह संकल्प बोला जाता है—कुँआ, बावड़ी मन्दिर आदि बनवानेके बाद जब प्राण-प्रतिष्ठा करवायी जाती है तब उसके अन्तमें सर्व-समर्पण होता है, जिसका अर्थ होता है कि सब उस कृति का उपभोग करें।

तो, आप जो काम करते हैं—उसका नाम है साधन, उसका नाम है भजन। आजतक आपने क्या किया है, उससे हमारा कोई रिश्ता नहीं है, कोई मतलब नहीं है। हिस्ट्रीशीट देखना पुरोहितका काम है। वह देखा करे कि किसने कब, कहाँ, क्या किया है। यह हम लोगोंका काम नहीं है। जनम-जनमके पापोंकी बही देखना चित्रगुप्तका काम है, हम लोगोंका काम नहीं है। आज तक आपने क्या किया है, इससे हमारा कोई मतलब नहीं। हमारा मतलब तो इससे है कि आपका सारा पूर्व जीवन इस समय समाप्त हो रहा है। आइये, उत्तर जीवनका आरम्भ कीजिये। आगे आप जो करेंगे, उसमें

कोई विघ्न नहीं। आपके मार्गमें कोई बाधा ही नहीं है।

यदि कहो कि आगे करना क्या है—इसका उत्तर है कि विश्वास करो। पैसा एक भी खर्च मत करो। उसको रखो तिजोरीमें, बैंकमें। सुरक्षित रक्खो, ताकि कोई लेने न पावे। यह तो पहलेसे ही विरचित है कि तुम्हारा पैसा कोई-न-कोई लेगा ही। चाहे तुम्हारा दुश्मन लेगा, चाहे तुम्हारा बेटा लेगा। चाहे सरकार लेगी। जो इकठ्ठा किया हुआ है वह तुम्हारे जीते जी या मरनेके बाद कोई-न-कोई लेगा ही। उसके लिए संकल्प करनेकी जरूरत नहीं है। वह तो बिल्कुल दूसरे का है और दूसरेके हाथमें जायेगा ही। एक नहीं, हजार उपाय करो, वह दूसरेको ही मिलेगा। कोई खुशामद करके लेगा, कोई चिरौरी-बिनती करके लेगा, कोई पाँव दबाकर लेगा, बहू लेगा तो अपना हक समझकर लेगी, बेटी अपनी माँकी तारीफ करके लेगी, दुश्मन लेगा तो मारकर लेगा। कोई-न-कोई लेगा ही लेगा। वह तो दूसरे का है ही। तुम जो इकट्ठा करते हो, उसपर तुम्हारा कोई हक नहीं है सिवाय अभिमानके और कुछ तुम्हारा नहीं है। लेकिन बाबा, जा करने जा रहे हो उसके बारेमें तो कुछ सोचो।

लोग कहेंगे कि स्वामीजी मीठी-मीठी बात नहीं सुनाते, कड़वी-कड़वी सुनाते हैं—अरे भाई मीठी-मीठी बात सुननेको मिलती है, वह आप लोगोंको, सबको मालूम है। उसमें कितनी मिठास होती है, आप सबको मालूम होगा। इसलिए थोड़ी-सी जगह कुछ कड़वी बात सुननेके लिए रहनी चाहिए।

यह जो मार्ग है, यह विश्वासका मार्ग है। ईश्वर पर विश्वासका मार्ग है। कल कोई कह रहा था कि ईश्वर जो करता है, वह अच्छा ही करता है। मैंने उनको बताया कि लोग ऐसा बोलनेको तो बोल देते हैं लेकिन इसका मतलब भी समझना चाहिए। मतलब क्या है? यही है कि जो ईश्वर करता है, वह अच्छा करता है—माने जो होता है वह अच्छा होता है। आप इसको ऐसे समझिये कि जो कुछ होता है, वह हमारे विश्वासके अनुसार ईश्वरकी ओरसे होता है। जो होता है वह अच्छा होता है—यह समझनेके लिए ही ईश्वरका नाम लेकर यह बात कही जाती है कि वह जो करता है, अच्छा करता है।

अब आप देखिये कि जो हो रहा है, उसमें आप प्रसन्न हैं? जो होता है वह ईश्वरकी ओरसे हो रहा है, यह विश्वास आपमें है? लेकिन विश्वासमें भी कभी-कभी प्रमाद हो जाता है। प्रमाद क्या है? जरा-सी सिद्धि मिल गयी, दूसरेके मनकी बात

कभी समझ ली तो बोले कि हम तो सिद्ध हो गये। ऐसा नहीं होना चाहिए। हमारे पास ५-७ भक्त थे। रोज दस-दस हजार नाम जप करते थे। खानेको तो कुछ था नहीं, सूखी रोटी खाते थे। पर जब वे भजन करने बैठते और कोई किशमिशकी पुड़िया लाकर उनके सामने रख देता तो बोलते कि देखो! हमारे भजनके प्रतापसे ईश्वरने कृपा करके यह किशमिश खानेको भेजी है। इस तरहकी सिद्धि माननेवाले लोग क्या करते हैं? कभी विभूति गिर गयी तो कुर्त्ता फाड़कर फेंक दिया, मतवाले हो गये! इन सबको सिद्धि नहीं बोलते। इनका नाम है प्रमाद। प्रमाद माने ईश्वरपर-से नजर हट जाना, ईश्वरकी शक्तिपर-से नजर हट जाना। तुम जिसे याद कर रहे थे वह आगया। तुम्हें जिस चीजकी जरूरत थी वह आगयी। जिस कामकी जरूरत थी, वह हो गया। तुम्हें पाँच रुपयेकी जरूरत थी वह मिल गया और तुम समझने लगे कि बड़ी भारी सिद्धि मिल गयी। यह सब प्रमाद है।

तो, ईश्वरपर विश्वास रखो। इसमें प्रमादके लिए कोई स्थान नहीं है। यदि कभी कोई गलती हो जाये तो चिन्ता नहीं। सेवा करते समय जो गलती होती है, मालिक उसको अपनी ही गलती मानता है। मालिक यह कहता है कि भाई, जो जिन्दगी भर हमारी सेवा करता रहा, उससे एक तश्तरी टूट गयी तो क्या हुआ? जो हमेशा रसोई बनाता है, उससे आज दालमें नमक ज्यादा पड़ गया तो क्या हुआ? यह कोई दोष नहीं है। चलनेवालेका पाँव फिसलता ही है। उसपर त्यौरी चढ़ानेको, भौंह चढ़ानेकी कोई जरूरत नहीं है।

तो, भगवान् आपकी गलतीकी उपेक्षा कर देते हैं, उसको अपनी मान लेते हैं। आगे भी बीच-बीचमें कोई गलती हो जाती है, तो वह भी माफ हो जाती है और यदि जीवनमें अज्ञान आजाता है तो उस अज्ञानसे भी रक्षा हो जाती है। सेवा करनेका हक ज्ञानी लोगोंको नहीं होता। एक ब्राह्मण वेदपाठ करके सेवा करता है। हमारे पास ब्राह्मण लोग आते हैं—वेद-पाठ करके सेवा करते हैं—बहुत बढ़िया। पर हमारे यहाँ जो भङ्गी है, वह हमारी नाली साफ करता है। जो चमार है वह झाड़ू लगाता है। धोबी कपड़े धोता है। नाई बाल बनाता है। यह भी सेवा है। सेवा करनेमें ज्ञानकी क्या जरूरत है? यदि भगवान्‌की भक्ति करनी है तो उसके लिए ज्ञानवान् बननेकी जरूरत नहीं होती। ऐसी बात नहीं कि विचार-सागर पढ़े बिना, पञ्चदशी पढ़े बिना ईश्वर नहीं मिलता। अनपढ़ आदमीको क्या ईश्वर मिलता

ही नहीं ? यह ईश्वरकी जिम्मेदारी है कि वे अपने सब बच्चोंको पढ़ाये। यदि पढ़ाये बिना अपने बच्चेको ईश्वर गोदमें नहीं लेते तो यह ईश्वरकी गलती है कि ईश्वरने अपने बच्चेको पढ़ाया नहीं। यदि बिना ज्ञानके ईश्वर नहीं मिलता तो वह ईश्वरकी गलती है कि ईश्वरने अपने सब बच्चोंको ज्ञान क्यों नहीं दिया ? यह सब फालतू बातें हैं। अमुक चन्दन सीधा लगाकर जाओगे तो ईश्वर अपनी गोदमें लेगा और अमुक तरहके कपड़े पहन कर जाओगे तो ईश्वर पहचानेंगे—यह सब बात नहीं होती। आप जैसे हैं, जो भी हैं, भगवान्के पास आजाइये। आपके चित्तका असन्तोष दूर करनेके लिए भगवान्के अतिरिक्त और किसीमें सामर्थ्य नहीं है।

धनकी कमी ईश्वरकी ओर जानेमें कोई अड़चन नहीं है। जातिकी कमी, लिङ्ग भेद अर्थात् स्त्री या पुरुष होना—यह ईश्वरको ओर जानेमें बाधक नहीं है। अमुक-अमुक काम करना, बड़े-बड़े यज्ञ करना या न करना—यह कोई ईश्वरकी ओर जानेके लिए शर्त नहीं है। पढ़ा-लिखा पण्डित होना—यह कोई जरूरी नहीं है। बुद्धिमान् होनेकी जरूरत नहीं है। सुन्दर होनेकी शर्त नहीं है। शर्त तो यह है कि जो कुछ कर रहे हो—भगवान्के लिए करो। यह देखो कि आप अपने बापकी ओर जा रहे हो कि नहीं ? नहीं जा रहे हो तब भी वह आकर उठा लेता है। अपनी गोदमें ले लेता है। आपने सुना ही होगा, भागवतमें कि कुब्जा जा रही थी कंसके पास। अद्भुत प्रसंग है। उसकी थालीमें जो प्रसाधनका सामान था—स्नो, पावडर था, वह सब महाराजा कंसको लगानेके लिए, मालिश करनेके लिए था। वह बेचारी नाईन जातिकी थी और शरीरकी कुबड़ी थी। वह महाराजाकी पसन्द नहीं थी। कंसकी रानियोंने कहा कि हम सुन्दर स्त्रीको कंसकी मालिश नहीं करने देंगे। उन्होंने रोक लगा दी थी कि कोई भी सुन्दर स्त्री कंसकी मालिश करने नहीं जायेगी। बड़ी पावरफुल थीं कंसकी रानियां। इसलिए उन्होंने कुबड़ी नाईन रक्खी हुई थी कंसकी मालिशके लिए।

अब देखो भगवान्की लीला! इनका नाम है परमेश्वर। वे कुब्जाके पास जाकर बोले कि ओ अरी सुन्दरी! 'तोहि सम सुघड़ न कोऊ' — तू जितनी सुन्दरी है—उतनी सुन्दरी तो कोई है ही नहीं। यह सुनकर कुब्जा फूल गयी। बोली—आ-हा-कोई हमको भी सुन्दर कहनेवाला तो मिला। श्रीकृष्ण बोले कि इस सामग्री की मालिश हमारे शरीरमें कर दे। वह सोचने लगी कि यह आम सड़क

है, लोग देखेंगे तो क्या कहेंगे। दे दिया उसने कि लगा लो। यह देखो—ईश्वरके पास जानेके लिए क्या सामग्री चाहिए? क्या जाति-सम्पदा चाहिए? क्या कर्म-सम्पदा चाहिए? रूप-सम्पदा चाहिए? कुछ नहीं चाहिए। अज्ञानीसे अज्ञानीके लिए भी ईश्वरका मार्ग खुला है। आपको शान्ति मिलेगी, आपको सन्तोष मिलेगा। आपको आनन्द मिलेगा। हम मरनेके बादकी बात नहीं करते। मरनेके बादके लिए चिट्ठी लिखवानी हो तो किसी पादरी के पास जाइए। स्वर्गमें जानेका 'परमिट' लेना हो तो अपने पुरोहितसे ले लीजिए। जगतमें जानेके लिए आप किसी मौलवीसे मिलिए। हम किसी पादरी, पुरोहित, मौलवीका काम नहीं करते। हम किसी पन्थके 'पोप' नहीं हैं। हम तो सम्पूर्ण मनुष्य-मात्र, मनुष्य-मात्र ही नहीं सम्पूर्ण प्राणी-मात्र, प्राणी-मात्र ही नहीं सम्पूर्ण पदार्थ-मात्रको भगवान् कैसे मिलते हैं—यह विद्या, यह बुद्धि जानते हैं। इसलिए आप अपना काम कीजिए। आपको सन्तोष मिलेगा, सुख मिलेगा।

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद् यत् सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥
(भा० ११.२.३६)

लेकिन एक बातका ख्याल रखिए कि आप जो कर रहे हैं, वह किसीको नुकसान पहुँचानेके लिए तो नहीं कर रहे हैं? आपने अपने काममें किसीके लिए जहर तो नहीं मिलाकर रक्खा है। अरे! बाबा जहर भोजनमें ही नहीं दिया जाता। अपने दिलमें जो जहर है—कड़ुआहट है, उससे भी दूसरेका अहित होता है। इसलिए देखिए कि आप जो काम कर रहे हैं, वह किसी-को नुकसान पहुँचानेके लिए तो नहीं कर रहे हैं? इससे तो आप अपने ही दिलमें आग लगाते हैं। घर आग लगानेसे पहले तो दिलमें जलेगा। दूसरेके घरमें वह आग बादमें पहुँचेगी। परमेश्वरको हम जानते हैं। जिसके साथ आप सर्व प्रकारका व्यव-हार कर रहे हो ना! वह कौन है? आप जानते हो? मेरे ऊपर आप विश्वास करें तो मैं एक सेकेण्डमें बता दूँ। आप जिससे बात करते हो, जिसके साथ मिलते हो, जिसके साथ खाते-पीते हो, जिसको देते-लेते हो, वह ईश्वर है। ईश्वर कहीं तुम्हारे डरके मारे वैकुण्ठमें छिपा है, सो बात नहीं है। न तो वह वैकुण्ठमें है, न तो पातालमें, न गुफामें, न स्वर्गमें है। ईश्वर वह है, जिसको तुम देख रहे हो, जिससे बोल रहे हो, मिल रहे हो। ईश्वरकी भक्ति वह है जो तुम अपने शरीरसे कर रहे हो, वाणी-से बोल रहे हो। आप जो कर रहे हो,

वह ईश्वरके लिए, ईश्वरसे कर रहे हो कि नहीं ? ईश्वरसे बोल रहे हो कि नहीं ? मनसे जो सोच रहे हो, वह ईश्वरके बारेमें सोच रहे हो कि नहीं ? वेदान्तियोंका जो ईश्वर माया-से परे है, वह उनको मुबारक हो। हमको वह नहीं चाहिए। जो योगियोंकी समाधिमें ईश्वर है, वह हमको नहीं चाहिए, उनको हम हाथ जोड़ते हैं। जो वैकुण्ठमें रहता है—उसको दूरसे ही प्रणाम है। ईश्वर यहाँ है, यहीं है, अभी है और इन्हीं रूपोंमें है। आप कानसे ईश्वरकी बात सुन रहे हैं। आप हाथसे ईश्वर को छू रहे हैं। आप नाकसे ईश्वरको सूँघ रहे हैं। आप जीभसे ईश्वरको चाट रहे हैं। आप पाँवसे ईश्वरकी ओर चलते हैं। आप बुद्धिसे ईश्वरके बारेमें सोचते हैं। ईश्वरका रास्ता नहीं होता। ईश्वर होता है। ईश्वर पर पर्दा नहीं होता। ईश्वर है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

धूम्रपान सबसे खतरनाक नशा

वाशिंगटन, ७ मार्च (रा)। किसी भी नशीले पदार्थकी तुलनामें धूम्रपानसे सबसे अधिक रोग और सबसे अधिक रोगियों की मृत्यु होती है।

अमेरिकी स्वास्थ्य सेवा विभाग सर्वेक्षणके उक्त निष्कर्ष पर पहुँचा है और इस सम्बन्धमें उसने अब तकको सबसे सख्त चेतावनी दी है।

बताया गया कि जो लोग कम सिगरेट पीते हैं, उनके लिए भी खतरा है, जो ज्यादा धूम्रपान करते हैं, उनको तो खतरा है ही। धूम्र-पान करनेवालोंको दिलका दौरा पड़ सकता है और फेफड़ेका कैंसर भी हो सकता है।

ज्यादा धूम्रपान करनेवालोंकी तुलनामें हृदय-रोग होनेका तीन गुना और फेफड़ेका कैंसर होनेका बीस गुना अधिक खतरा रहता है।

बताया गया कि धूम्रपान करनेवाले लोग रोजाना कम-से-कम एक हजार मिलिग्राम 'टार' कशमें साथ अन्दर लेते हैं।

यह भी बताया गया कि अन्य नशीले पदार्थोंकी बजाय धूम्रपानकी आदत मुश्किलसे छूटती है

—न० भा० टा०

मानस-गीत

[१]

वेद-पुराण-सुकाननके सुठि ज्ञान-प्रसूननको रस छान्यो,
आगम-काव्य-रामायण आदि को तत्त्व-महत्त्व भली विधि सान्यो।
लोककी रीति-प्रतीति पुरातन और आधुनातनता पहचान्यो,
राम-कथा मिष सोइ अनूपम 'मानस'में 'मधुरेश' बखान्यो ॥

[२]

भव्य भविष्यकी कल्पना है इसमें प्रतिबिम्बित पूर्ण अतीत है,
सत्य-सनातन-सुन्दर औं शिवरूप अनूप समन्वयगीत है।
मंगल-मूल महा 'मधुरेश' सदा सबका निर्हेतुक मीत है,
मंथन कै निगमागम आदिक मानसकार दियो नवनीत है ॥

[३]

है शुचिता रुचिता नित नूतन, काव्य कलाका अनुपम योग है,
शान्त-सुखी सब लोग बनें, जिससे, वह मंगल-मंत्र प्रयोग है।
जासु रमै 'मधुरेश' यहाँ मन, ताहि न व्यापि सकै भवरोग है,
'मानस' रूप दियो तुलसी नरके कर दिव्यताका 'नवभोग' है ॥

[४]

जे उर शुष्क मरुस्थलसे बने, ते सब भाव-सुधा भर जाते,
लेश न क्लेश रहै तिनको, मन जे जन प्रेम-समेत रमाते।
रामको रूप रामायण है 'मधुरेश' जहाँ मुद-मंगल पाते,
मानस-नाव रच्यो तुलसी जेहिते भवसिंधु सबै तर जाते ॥

(तुलसी-शतक से)

—भानुदत्त शास्त्री 'मधुरेश'

महानुभाव सम्प्रदाय एवं कृष्णभक्ति

डॉ० मो० दि० पराड़कर

हिन्दू-धर्म में समाविष्ट होनेवाले संप्रदायों में ईसा की तेरहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र में उदित महानुभाव संप्रदाय को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यह वह संप्रदाय है जिसने अपने उद्भव के समय से ही विकसित रूप धारण किया था। ईसा की तेरहवीं शताब्दी से लेकर लगभग सोलहवीं शताब्दी तक यह संप्रदाय महाराष्ट्र एवं मध्य भारत के साथ-साथ पंजाब तथा काश्मीर तक फैल चुका था।

महानुभाव संप्रदाय के पाँच नाम प्रचलित हैं जिनमें से 'जयकृष्णी' से स्पष्ट है कि इस पंथ के अनुयायी श्रीकृष्ण के उपासक माने जाते हैं। पंजाब एवं पेशावर की तरफ यह नाम अधिक प्रचलित है। वास्तव में यह उसका मूल नाम नहीं माना जा सकता, संभवतः यह नाम इस पंथ को ईसा की सोलहवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ। संप्रदाय का और एक नाम है अच्युत पंथ। इससे भी अच्युत एवं श्रीकृष्ण की भक्ति की भावना सूचित होती है। इस पंथ के संस्थापक श्रीचक्रधरने अपने अनुयायियां से एक बार कहा था, 'तुम्हीं अच्युतगोत्रीय को गा; तुम्हां परस्परें परम प्रीती हो आवी' (आचार स्थल १३६)। महानुभाव 'शब्दका अर्थ होता है' 'महान् अनुभावः तेजः बलं यस्य स महानुभावः'। महानुभाव उस व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता है जिसका तेज या बल महान् हो। स्पष्ट है कि यह नाम भी निरंजन माधव के याने परवर्ती काल में प्रचलित हुआ होगा। चक्रधर के अनुयायी पारस्परिक व्यवहार में 'महात्मा' शब्द को प्रयुक्त करते थे जिससे इस पंथ का 'महात्मा' नाम प्रचलित हुआ। इस संप्रदाय में चक्रधर के महान् शिष्य नागदेवाचार्य को असाधारण स्थान प्राप्त है। ये 'भट' नाम से पहचाने जाते थे, इसीसे यह मार्ग भटमार्ग कहलाया। 'लेकिन 'परमार्ग' यही इस पंथ का मूल नाम रहा होगा क्योंकि महानुभावीय व्यक्ति अपने धर्म को परधर्म और

शास्त्र को परशास्त्र कहते हैं। श्रीचक्रधर ने स्वयं 'परधर्मं मृणजे तुमचे जीवन कीं गा' (सिद्धान्त सूत्रपाठ—आचार मातिका ८६) कहकर 'पर' की याने ईश्वर की प्राप्ति का मार्ग बतलाने वाले इस पंथ की गरिमा की ओर संकेत किया है।

महानुभाव सम्प्रदाय के संस्थापक श्रीचक्रधर गुजरात के भडोंच गाँव के निवासी थे। इनका मूल नाम था हरपालदेव। इतिहास में बतलाया जाता है कि सन् ११९४ में जनमे हुए विशालदेव के पुत्र हरपाल देव ने यादव वंश के सिंघण से लोहा लिया था। सन् १२२९ में हरपाल देव की मृत्यु हुई और उन्हीं के शरीर में 'श्री चांगदेव राऊळ' ने प्रवेश किया। राजपुत्र हरपालदेव को श्री गोविन्द प्रभु ने ऋद्धिपुर में उपदेश दिया और उसका नाम 'चक्रधर' रखा। गोविन्द प्रभु से शक्ति को स्वीकार करके वैराग्य-सम्पन्न चक्रधर ने सातवर्डी के पर्वत पर बारह बरसों तक तपस्या की और बाद में भारत की परिक्रमा की। सन् १२६७ में चक्रधर ने नागूबाई में (नागाम्बिका) प्रेम का संचार कराया और पैठण में संन्यास ग्रहण किया। इसके बाद ७ बरसों तथा ५ महीनों की अवधि में वे महाराष्ट्र में भ्रमण करते रहे। सूत्रपाठ में उन्होंने उचित ही कहा 'महाराष्ट्रो असावे'। इसी काल में नागदेवाचार्य ने उनसे दीक्षा प्राप्त की; उनकी माता आबाइसा तथा चचेरी बहन महराइसा दोनों दीक्षित हुईं। चक्रधर ने अपनी गुरु-परम्परा में श्रीदत्तात्रेय—द्वारा वसीकार चांगदेव राऊळ—गुंडम राऊळ याने गोविन्द प्रभु का उल्लेख किया है। उनके शिष्योत्तम रहे। नागदेवाचार्य जिन्होंने चक्रधर के दर्शन को सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया और अपने गुरु का अनुकरण करते हुए जन-साधारण की भाषा में याने मराठी में ग्रंथों का प्रणयन करने की आवश्यकता पर जोर दिया। इन्हीं के शिष्य आगे चलकर तेरह आम्नायों में विभाजित हुए। यहाँ ध्यान में रखना आवश्यक है कि चक्रधर ने जिन श्रीदत्तात्रेय का उल्लेख अपनी गुरु परम्परा में किया है वे जाने-पहचाने दत्तात्रेय [ब्रह्मा, विष्णु, एवं महेश के सम्मिलित रूप] नहीं माने जा सकते; क्योंकि महानुभावों के मतानुसार उक्त तीनों साधारण देवता हैं; ईश्वरावतार नहीं। चक्रधर ने स्वयं श्रीदत्तात्रेय प्रभु को 'चतुर्युगावतार' कहकर उनका गौरव किया है।

ईश्वर एवं देवता के अन्तर को समझने के लिए महानुभावों के संस्थापक द्वारा प्रणीत दर्शन को विशद करना आवश्यक है। चक्रधर के पूर्ववर्ती काल में केवलाद्वैत के प्रवर्तक शंकराचार्य तथा विशिष्टाद्वैत के प्रणेता रामानुजाचार्य का उल्लेख करना पड़ेगा। चक्रधर ने इनका अनुकरण नहीं किया; उन्होंने जीव, प्रपंच, देवता एवं परमेश्वर इन चारों को स्वतंत्र पदार्थ मानकर पूर्णतया द्वैतवाद का समर्थन किया है। जीव को महानुभावों ने बद्धमुक्त माना। अविद्या के बन्धन के कारण वह बद्ध माने जकड़ा हुआ है सही; किन्तु ईश्वर के स्वरूप के आनन्द का आस्वाद लेने की उसमें क्षमता है और परमात्मा की इच्छा के अनुसार माया जीव में 'चैतन्यमहस्' की प्रवृत्ति का निर्माण करके उसे मुक्त कराती है। प्रपंच के साथ सम्बन्ध रखने के कारण अन्यथा ज्ञान, जैसे दोषों से महानुभावों की परिभाषा में इन्हें भिन्न कहा जाता है वह मलिन हो उठता है। प्रपंच दो प्रकार का है—कारण प्रपंच और कार्य प्रपंच। अव्यक्त कारण प्रपंच में पंचमहाभूतों के साथ त्रिगुणी का समावेश है। कार्य प्रपंच में वास्तव में इन्हीं का वह रूप है जो दृष्टिगोचर होता है। यह प्रपंच संहार के समय कारण प्रपंच में विलीन होता है। कार्य-प्रपंच जड़ एवं प्रकाशहीन है वह कभी जीव से संलग्न होता है तो कभी उससे अलग प्रतीत होता है।

महानुभावों का तीसरा तत्त्व है देवता जो जीव की तरह मूल रूप में एक किन्तु वास्तव में अनेक हैं। इनके ८ समूह या थोवे माने गये हैं; प्रत्येक ब्रह्माण्ड में इनकी संख्या ८१ कोटि ११ लाख १० निर्धारित की गई है।[१] इन समूहों में उच्च-निम्न कोटियाँ हैं; उदाहरण के लिए कर्म-भूमि के देवताओं का समूह सबसे निम्न कोटि का और मायासमूह सबसे उच्च कोटि का माना गया है। इन समूहों के देवताओं में भी उच्च-निम्न कोटियाँ हैं; केवल पाँचवें 'सत्य-कैलास-वैकुंठ' समूह में ब्रह्मा, हर और हरि को तथा सातवें समूहमें अष्टभैरव को समान माना गया है। ये सभी देवता-स्वरूप ज्ञान, सुख, ऐश्वर्य, सामर्थ्य तथा प्रकाश इन पाँच

---

१. इस सम्बन्ध में अधिक जानकारी के लिए देखें—
महाराष्ट्रांतील पाँच सम्प्रदाय—डॉ० पं० रा० मोकाशी पृ० ५७ और
भारतीय संस्कृति कोश—सं० पं० महादेव शास्त्री जोशी खण्ड ७

प्रकारों से युक्त है; फिर भी इन्हें 'नित्यबद्ध' माना गया है क्योंकि ये मुक्ति के अधिकारी नहीं।

महानुभाव-दर्शन में ईश्वर को मुख्य स्थान प्रदान करके वेदान्तियों के ब्रह्मको गौण माना गया है। यह ईश्वर अनादि, नित्य, अव्यक्त, स्वयं-प्रकाश, सर्वव्यापी, सर्वसाक्षी, सर्वकर्ता, ज्ञानमय तथा आनन्दमय है। इसी ईश्वर का निर्गुण, अविक्रिय एवं अव्यक्त अङ्ग ब्रह्म कहलाता है। "ब्रह्म अभिन्नरूप मृणजे परमेश्वरेसी भिन्न नाही: यासी न्याय यथा : पाठपोठ" इस महावाक्य में बतलाया गया है कि ब्रह्म पोठ की तरह है तो ईश्वर उदर की तरह। जीव के उद्धार के लिए परमेश्वर मनुष्य-रूप धारण करके पृथ्वी पर अवतीर्ण होता है। ये अवतार तीन प्रकार के हैं—(१) अवर दृश्यावतार—इसमें अवर शक्ति को स्वीकार किया जाता है। (२) पर दृश्यावतार—इसमें परशक्ति की स्वीकृति है (३) उभय दृश्यावतार—इसमें दोनों शक्तियों को स्वीकार किया जाता है। यही मनुष्य-देह धारण करनेवाला अवतार सही अर्थों में जीव का उद्धार कर सकता है। दत्तात्रेय, श्रीकृष्ण तथा चक्रधर स्वामी तीनों उभय दृश्यावतार हैं। इन अवतारों का शरीर माया से व्याप्त होता है; इसलिए इस शरीर को 'मायापुर' की संज्ञा दी जाती है।

परमेश्वर के अनन्त गुणों का वर्णन करते हुए महानुभावों के ग्रन्थों में सौन्दर्य, लावण्य, औदार्य, सौभाग्य, दया, मया, (ममत्व), कृपा, करुणा आदि का वर्णन किया गया है, जिसे पढ़ते हुए सूरदास, रसखान आदि कवियों द्वारा वर्णित्त कृष्ण के गुणों की याद आती है। सौन्दर्य को तो उन्होंने 'अनयवाचे बरवेपण ते यथायुक्त' कहकर जिससे दृष्टि को हटाना असम्भव है उसकी तत्त्व की बात उठायी है और 'त्रेती सीता बरवी : द्वापरी श्रीकृष्ण चक्रवर्ती बरवे : कलियुगी हे (श्रीचक्रधर-स्वामी) बरवे (विचार स्थल)' में त्रेतायुग में सीता को, द्वापर में श्रीकृष्ण को और कलियुग में श्रीचक्रधरस्वामी को सौन्दर्य से संयुक्त माना है। किन्तु लावण्य को 'दैवी सौन्दर्य' की उपाधि प्रदान करके उसकी परिभाषा करते हुए 'अन्तर्गुणे आवडी ते लावण्य' कहकर श्रीचक्रधरस्वामी को ही उससे संयुक्त माना है (देखें एथिची दंवी ते क्वापि नाहीं—विचार १०२)।

महानुभावों के सम्प्रदाय में अच्युत पद को प्राप्त करके ईश्वर के

आनन्द का अनुभव करना यही ध्येय माना गया है। इसके लिए दो मार्ग हैं—ज्ञानमार्ग एवं प्रेममार्ग। ज्ञानमार्ग को स्वीकार करना कठिन है क्योंकि ज्ञानप्राप्ति के उपरान्त भी मलकर्म के नाश के लिए 'असतो-परी' के नाम से प्रसिद्ध आचार-धर्म का पालन करना पड़ता है जिसमें साधक को अन्तिम साँस लेने तक ज्ञान तथा वैराग्य से समन्वित रहना आवश्यक हो उठता है। मतलब, वैदिकों के ज्ञानमार्ग की तरह यह भी 'कृपान के धारा' जैसा है। इससे तुलना में आसान है प्रेम का या भक्ति का मार्ग, जिसमें स्वयं परमात्मा जीव में 'प्रेम' रूपी शक्ति का सञ्चार कराते हैं जिससे संकल्प-विकल्प नष्ट होते हैं और साधक सर्व सङ्ग परित्याग करके परमेश्वर का अनुसरण करता है। इस अनुसरण से उसे जिस आनन्द का अनुभव होता है वह ईश्वर के द्वारा अनुभूत आनन्द का ही दूसरा नाम है। स्पष्ट है यहाँ भी शक्कर का आस्वाद लेनेवाली पिपीलिका की तरह भक्त भगवान् से स्वतन्त्र सत्ता रखता है। यद्यपि स्वतन्त्र सत्ता की यह बात अद्वैत से मेल नहीं खाती फिर भी महानुभावों द्वारा प्रतिपादित प्रेममार्ग की श्रेष्ठता वैष्णवों की कृष्ण-भक्ति से पर्याप्त समानता रखती है। वास्तव में महानुभावीय ग्रन्थों में प्रेममार्ग की श्रेष्ठता का वर्णन पढ़ते समय भागवत के 'प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता। न दानं न तपो न चेज्या न शौचं न व्रतानि च। प्रीयतेऽनतया भक्त्या हरिः अन्यद् विडम्बनम्।' इन शब्दों की याद आये बिना नहीं रहती।

महानुभाव सम्प्रदाय के अनुगामी सात ग्रन्थों को पूज्य मानते हैं जिनमें से भास्कर भट्ट बोरीकर का शिशुपाल-वध (सन् १२७३), कवीश्वर भास्कर प्रणीत एकादशस्कन्ध (सन् १२७४), दामोदर पण्डित का लिखा हुआ वत्सहरण (सन् १२७८) तथा नरेन्द्र कवि विरचित रुक्मिणी-स्वयम्बर ये चारों श्रीकृष्ण चरित्र का वर्णन करते हैं और इनके रचयिता श्रीचक्रधरस्वामी के सम्पर्क में आये—इसे भुलाया नहीं जा सकता। शेष तीनों ग्रन्थ हैं। विश्वनाथ बाल्वपूरकर का 'ज्ञानबोध' (सन् १३३१), रवन्नो व्यास प्रणोत 'सह्याद्रिवर्णन' (सन् १३३२) तथा नारो व्यास का लिखा हुआ 'ऋद्धिपुर वर्णन'। ओवी छन्द में लिखे हुए ये तीनों ग्रन्थ पूर्णतया साम्प्रदायिक माने जा सकते हैं।

महानुभावों ने श्रीकृष्ण का जो वर्णन किया है वह विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण से बहुत भिन्न नहीं है। उनके मतानुसार विष्णु को वैकुण्ठवासी

मानना भी एक तरह के सीमितपन को अपनाना है; क्योंकि तब वे मुक्तिदाता नहीं माने जा सकते। इसीलिए श्रीकृष्ण को महानुभावीय व्यक्ति परब्रह्म का साक्षात् अवतार मानते हैं। इसके फलस्वरूप भगवान् के एकादश स्कन्ध को तथा भगवद्गीता को श्रीचक्रधर ने भी पूज्य माना है और गीता पर महानुभाव-पन्थ के अनुयायियों द्वारा लिखित टीकाओं की संख्या चालीस है। 'पद्म कृष्ण' यह महानुभावीय शब्द सम्भवतः पद्मपुराण के उत्तर खण्ड के १७वें अध्याय से लिया गया है। चाङ्गदेव राऊळ 'चक्रपाणि' के नाम से पहचाने जाते थे। क्या 'चक्रपाणि' क्या 'चक्रधर' दोनों श्रीकृष्ण के ही नाम हैं। गोविन्द प्रभु श्रीकृष्ण के ही अवतार माने जाते थे। महदंबा—जिसे मराठी की आद्य कवयित्री माना जाता है—उनके लिखे हुए 'धवळे' गोविन्द प्रभु के द्वारा आयोजित श्रीकृष्ण-विवाह समारोह के समय पर प्रणीत हुए थे। इस प्रकार वैष्णवों की कृष्ण-भक्ति के सन्दर्भमें महानुभावों की कृष्णोपासना की चर्चा करना समीचीन ही है; दोनों के लिए द्वापर युग के श्रीकृष्ण ही आधार हैं; उनको ओर देखने के दृष्टिकोण में तनिक अन्तर है। उपासना में जो अन्तर है वह तो स्पष्टतया इसी की उपज है।

वैष्णवों की कृष्णभक्ति की नींव अगर प्रवृत्तिवाद है तो चक्रधर प्रणीत भक्ति की नींव निश्चित रूप से निवृत्तिवाद है। वैदिकों के पन्थों में वेदों को जो महत्त्व प्राप्त हुआ वही महत्त्व महानुभाव पन्थ में चक्रधर के वचनों को मिला। ईश्वर प्राप्ति के साधन के रूप में वेदों का तनिक भी उपयोग महानुभावों ने नहीं माना; वैदिकों की देवोपासना को उन्होंने अनुपादेय घोषित किया और सबसे बड़ी बात है अपने धर्म-मन्दिरों में स्त्रियों एवं शूद्रों को भी प्रवेश का अधिकारी मानना। अपने धर्म के प्रसार में जनसाधारण को भाषा को याने मराठी को अपनाना यह भी महानुभाव सम्प्रदाय की एक विशेषता है।

इन विशेषताओं के रहते हुए भी महानुभाव पन्थ के अनुयायियों ने संन्यास मार्ग को प्रधानता प्रदान की जो साधारण व्यक्ति के बूते की बात नहीं है। आर्त मानव हृदय को 'मा शुचः' माने 'शोक मत करो' कहकर आश्वासन देने वाला वरद हस्त बढ़ाने की शक्ति इस पन्थ के अनुयायिओं के देवताओं के विषय में जो रुख इस सम्प्रदाय में अपनाया

(शेष पृष्ठ २६९ पर)

व्रज-संस्कृति और उसकी व्यापकता

श्री रजनी गोस्वामी एम० ए०
बिहारीपुरा, वृन्दावन

सूरदासने और नन्ददासने मथुरा एवं द्वारका-लीला-वर्णन द्वारा तत्कालीन नागरिक संस्कृतिका संक्षिप्त वर्णन किया है। परन्तु अन्य कवियोंकी वृत्ति गोकुल-वृन्दावन-लीलामें ही रमी रही और इस प्रकार वे ग्रामीण संस्कृतिका ही यथार्थ चित्र अङ्कित करनेमें पूर्ण सफल हो सके। उनका यह प्रयास बहुत ही महत्वपूर्ण रहा। क्योंकि भारतका हृदय तो ग्रामोंमें ही है, शहरोंमें नहीं। अतएव ग्रामीण संस्कृति ही भारतीय संस्कृतिके वास्तविक रूपसे परिचित करा सकती है। दूसरे मथुरा, आगरा आदि व्रजप्रदेशीय प्रमुख नगरोंके नागरिक जीवन पर इसलामी जीवन-चर्या और विचार-धाराका जो प्रभाव पड़ चुका था उससे गोकुल-वृन्दावन आदिके ग्रामीण प्रायः अछूते ही थे।

काव्यका सम्बन्ध भी जातिके इतिहाससे अधिक उसके संस्कार-जन्य आदर्शोंसे रहता है। फलस्वरूप ऐतिहासिक स्थितिके सम्बन्धमें जो संकेत या विवरण किसी काव्यमें मिलते हैं, वे प्रायः सामान्य और असम्बद्ध ही होते हैं।

प्रबन्ध काव्यमें तत्सम्बन्धी उल्लेखोंके लिए थोड़ा-बहुत अवकाश हो भी सकता है, परन्तु गीत काव्यमें उनके लिए कोई स्थान नहीं होता। यद्यपि कवि स्वयं उनकी उपेक्षा नहीं करता। फिर भी सम्बन्धित अनेक संकेत सभी प्रकारकी रचनाओंमें मिलते हैं। कारण तत्सम्बन्धित उल्लेख कोई भी कवि अनायास ही कर जाता है। क्योंकि उसीके व्यक्तित्वका निर्माण भी उन्हीं संस्कारों और आदर्शोंसे होता है। ये संकेत कभी तो प्रत्यक्ष रूपसे वर्णित विषयोंमें मिलते हैं और कभी परोक्षतः अलङ्कारोंके रूपमें इस उद्देश्यसे अपनाये जाते है कि अबोधावस्थामें ही संस्कारोंके रूपमें परिचित पाठक उन्हें सहज रूपमें हृदयंगम कर सकें।

साहित्य या काव्यके अङ्ग-विशेषको लेकर संस्कृतिके उक्त दोनों पक्षों पर सम्मिलित रूपसे विचार

करना ही व्रज-संस्कृति और उसकी व्यापकताका विचार किया जा सकता है।

काव्य-विशेषकी संस्कृति और उसकी व्यापकताके ज्ञानसे तथा अध्ययनसे उसके रचना-कालीन समाजकी स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। प्रथम तो पाठक उसकी राज-नीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, साहित्यिक और कलात्मक स्थितिसे परिचित हो सकता है। दूसरे, उन संस्कारों और आदर्शोंका भी उसे परिचय मिल जाता है, जो जाति या वर्ग-विशेषके लौकिक जीवनका परिचालन करते हैं। प्रथम प्रकारकी जानकारीका सम्बन्ध इतिहाससे रहता है, क्योंकि ऐतिहासिक परिस्थितियों के साथ-साथ उक्त सभी प्रकारकी स्थितियाँ भी परिवर्तित होती रहती हैं। दूसरा परिज्ञान अपेक्षाकृत अधिक महत्वका होता है। इसका मूल कारण यह है कि समाज-विशेषके लौकिक जीवन सम्बन्धी आदर्शोंका निर्माण शताब्दियोंमें होता है, और उन आदर्शोंकी जड़ ऐतिहासिक भूमिमें बहुत गहरी समायी रहती है। अतः ऐसे संस्कारोंका बीज-वपन उसी दिन हुआ समझना चाहिए जिस दिन मानव समाज ने सभ्यताका प्रथम पाठ सीखा था।

समान संस्कारों वाले मनुष्योंके समूहको ही साधारणतया 'जाति या समाज' समझा जाता है। अतएव समाजकी प्रकृति या स्वभाव और आस्था या विश्वासकी प्रेरक भावनाओंमें प्रायः संस्कार ही रहते हैं। सम्भवतः इसी कारण संस्कृतिकी एक प्राचीन उक्तिमें, किसी देश या समाजके विभिन्न जीवन-व्यापारों, सामाजिक सम्बन्धों और मानवताकी दृष्टिसे प्रेरणा प्रदान करनेवाले तत्त्वोंकी समष्टिको 'संस्कृति' कहा कहा गया है।[१]

इस प्रकार मनुष्यकी श्रेष्ठ साधनाओं[२] और जाति-विशेषके आन्त-रिक भावोंकी अभिव्यंजनाको 'संस्कृति' समझना चाहिए।[३]

हिन्दीके एक प्रमुख विद्वान्‌ने संस्कृतिको रहन-सहनकी रूढ़ि कहा है।[४] तो दूसरेने 'आचारगत परम्परा'

---

१. कस्यापि देशस्य समाजस्य वा विभिन्नजीवनव्यापारेषु सामाजिक-सम्बन्धेषु वा मानवीयत्वदृष्ट्या प्रेरणाप्रदानां तत्तद्दर्शनानां समष्टिरेव संस्कृतिः। भारतीय संस्कृतिका विकास (डा० मंगलदेव शास्त्री)में उद्धृत पृ० ३

२. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, 'अशोकके फूल' पृ० ७५

३. हीरेन्द्र नाथ दत्त, इण्डियन कल्चर, पृ० ४

४. डा० श्यामसुन्दर दास, 'हिन्दी शब्द सागर' चतुर्थ भाग, पृ० ३४.५

वताया है।[1] और तीसरेने उसको अन्तर्गत मन, रुचि, आचार-विचार, कला-कौशल और सभ्यताके क्षेत्रमें बौद्धिक विकास-सूचक बातें ली हैं।[2] इस प्रकार मानवके रहन-सहन और आचार-विचारसे सम्बन्धित उन सभी परम्परागत बातोंसे 'संस्कृति'का सम्बन्ध बताया गया है, जो उसकी विविध विषयक रुचियोंके परिष्कार और विविध अर्थात् शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियोंके विकासमें सहायक होती हैं।

यों 'संस्कृति'के दो पक्ष हो जाते हैं। पहलेका सम्बन्ध उन बातोंसे रहता है, जिनका निर्माण रहन-सहन, आचार-विचार, आदिसे सम्बन्धित वातावरण, संस्कार, सम्पर्क आदिके फलस्वरूप हुआ करता है और दूसरे पक्षका सम्बन्ध परम्परासे अर्थात् उन बातों से रहता है, जो मानव अपने पूर्वजोंसे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपमें ग्रहण करता है। प्रथम पक्षीय विषयोंकी नींव मानवके जन्म-कालसे ही पड़ जाती है और उसके रहन-सहन, आचार-विचार आदिपर जिन बातोंका आरम्भसे ही प्रभाव पड़ने लगता है वह व्रज संस्कृति और उसकी व्यापकतामें प्रमुख हैं। जैसे प्राकृतिक वातावरण, जीवनको सामान्य रूप-रेखा, पारवारिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक स्थिति आदि।

द्वितीय पक्षके अन्तर्गत विभिन्न विषयोंके सम्बन्धमें परम्परासे प्राप्त विश्वास और मान्यताओंके साथ-साथ अनेक पर्वोत्सव आदि भी आ जाते हैं, जिनसे जीवनके प्रति समाजके दृष्टिकोणको संकुचितता या व्यापकताका सहज ही परिचय मिल जाता है।

'व्रज-संस्कृति' और उसकी व्यापकता—

'संस्कृति' शब्दका सम्बन्ध 'संस्कार' संस्क्रिया या 'संस्कृत' शब्दोंसे स्थापित किया जाता है। अर्थकी दृष्टिसे वह अंग्रेजीके 'कल्चर' शब्दके अधिक निकट है। संस्कृतके एक विद्वान्के अनुसार 'संस्कृति'की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—सम् उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातुसे भूषण अर्थमें 'सुट्'का आगम करके 'क्तिन्' प्रत्यय करनेसे 'संस्कृति' शब्द बनता है।[3] इस व्युत्पत्तिके आधार पर 'संस्कृति'का अर्थ होता है—भूषणयुक्त सम्यक् कृतियाँ, चेष्टा। इस वाक्यमें 'सम्यक' शब्द ध्यान देने योग्य है। सामान्य प्राणीकी क्रियाएँ अपने मूलमें शरीरकी

---

१. श्री कालिकाप्रसाद, राजवल्लभ, मुकुन्दीलाल, 'वृहत् हिन्दीकोश' पृ० १३४४
२. श्री रामचन्द्र वर्मा, 'प्रामाणिक हिन्दीकोश' पृ० १२५९
३. 'कल्याण' हिन्दू संस्कृति अङ्क, पृ० २४

प्रकृतिके अनुसार स्वच्छन्द होती हैं, उनमें स्थान, समय, सम्पर्क आदिका ध्यान नहीं रखा जाता है। परन्तु मनुष्य इस प्रकारकी स्वच्छन्दताको उचित नहीं समझता है। वह अपने व्यापारोंको वही रूप देना चाहता है, जो उचित और सम्यक् हों। उक्त व्युत्पत्तिके अनुसार 'संस्कृति'के अर्थका सम्बन्ध ऐसी ही सम्यक् कृति या चेष्टासे जोड़ा गया है। एक महान् विद्वान्ने 'संस्कृति' शब्दका व्युत्पत्ति-जन्य अर्थ 'परम्परागत' अनुस्यूत 'संस्कार' बताया है।[१] इन दोनों अर्थोंमें प्रथम कार्य-प्रधान और द्वितीय संस्कार-प्रधान है।

संस्कृतमें 'संस्कृ' धातुके अनेक अर्थ होते हैं। यथा—सजाना, संवारना, परिष्कृत करना आदि।[२] अंग्रेजीके 'कल्चर' शब्दके कुछ अर्थ भी इसीसे मिलते-जुलते रहते हैं। जैसे विचार, रुचि, और आचारका शिक्षण तथा परिष्कार एवं विचार, रुचि और आचारके शिक्षण और परिष्कृत किये जानेकी स्थिति आदि।[३] इन अर्थोंका उक्त धात्वर्थसे सर्वथा विरोध ही हो, ऐसा नहीं जान पड़ता। कारण है कि 'कल्चर' शब्दके इन अर्थोंमें 'शिक्षणका परिष्कार'को महत्त्व दिया गया है और उसीकी ओर इंगित करनेवाला सम्यक् शब्द ऊपर प्रयुक्त हुआ है।

अभिप्राय यह है कि जिन कार्यों या व्यापारोंसे हमारा आचार-विचार सजाया-सँवारा हुआ माना जाय और हमारी रुचि शिक्षित या परिष्कृत समझी जाय, उन सबका सम्बन्ध संस्कृतिसे है।

उक्त कथनके आधारपर सम्यक् कृतियों और परम्पराओंसे प्राप्त संस्कारोंकी समष्टिको हम 'संस्कृति' कह सकते हैं।'[४] दूसरे शब्दोंमें मानवके हृदय पर विभिन्न कारणोंसे जो भाव-चित्र उत्पन्न होकर भाषा या कला-कौशलके माध्यमसे धर्म, समाज आदि मानवीय कार्य-क्षेत्रोंमें अनेक रूप धारणकर प्रस्फुटित होते हैं, उन सभी भाव-चित्रों और संस्कार-समुच्चयोंको संस्कृति कहना चाहिए। यों व्यापक अर्थमें मानवीय जीवन-यापनकी समग्र व्याख्याको 'संस्कृति' समझा जा सकता है।

व्रज संस्कृति और उसकी व्यापकतामें बड़ी गहनता है। इसमें ज्ञान,

---

१. 'कल्याण' हिन्दू संस्कृति अङ्क, पृ० ४१
२. आप्टेके संस्कृत कोशमें 'संस्कृ' धातुके ये अर्थ दिए हैं।
३. अंग्रेजीकी आक्सफोर्ड डिक्सनरीमें 'कल्चर' शब्दके ये अर्थ मिलते हैं।
४. श्री महादेव शास्त्री दिवेकर 'आर्यसंस्कृतिका उत्कर्षापकर्ष', पहला प्रकरण पृ० ५

विश्वास, नियम, रीति-रिवाज तथा वे सभी अन्य योग्यताएँ समाहित हो जाती हैं, जिन्हें व्यक्ति समाजके सदस्यके नाते ग्रहण करता है।[1] सारांश यह है कि 'संस्कृति'का सम्बन्ध मानवके उन वैयक्तिक और सामाजिक कार्योंकी अभिव्यक्तिसे है जिसके द्वारा मानवताको पशुत्वसे मुक्ति मिलती है।

सामान्य रूपसे काव्यके सांस्कृतिक नौ पक्ष हैं—प्राकृतिक, पारिवारिक, सामान्य, सामाजिक, रातनीतिक, और व्यावसायिक, जीवनकी रूपरेखा, धर्म और दर्शन सम्बन्धी विचार तथा साहित्य एवं कलाकी स्थितिका परिचय।

डा० दीनदयालजीने भी अपने विख्यात ग्रन्थमें धर्म, भक्ति, दर्शन आदिसे सम्बन्धित कवियोंके विचारोंका सामाजिक विवेचन तो किया है, परन्तु व्रज संस्कृति और उसकी व्यापकताके विषयमें कुछ नहीं लिखा है।

व्रज संस्कृति और उसकी व्यापकताके विषयमें डा० प्रेमनारायण टण्डनका 'सूर-साहित्यका संस्कृतिक अध्ययन' उल्लेखनीय है। डा० मुन्शी राम जैसे महान् लेखकने व्रजकी संस्कृति और उसकी व्यापकताके विषयमें अपने ग्रन्थमें व्यापक रूपसे लिखा है।

●

(पृष्ठ २६४ का शेषांश)

गया उसने इसे जनता से दूर ही रखा। चक्रधर तथा उनके शिष्य नागदेव के उपरान्त इस पन्थ के लिए कोई प्रभावी प्रचारक भी प्राप्त न हो पाया। फलस्वरूप महानुभावों के इस कृष्णभक्ति प्रधान पन्थ के सम्बन्ध में भी साधारण जनता के मन में शनैः शनैः अप्रीति का सञ्चार हुआ और इसे महाराष्ट्र का त्याग करके उत्तर की तरफ जाना पड़ा।

कतिपय सन्दर्भ ग्रन्थ

१. महानुभाव तत्त्वज्ञान—वि० भि० कोतने तृतीय आवृत्ति १९६९

२. महानुभावोचा आचारधर्म—वि० भि० कोतने १९४८

३. महाराष्ट्रान्ताले पाँच सम्प्रदाय—डॉ० पं० रा० मोकाशी द्वितीय आवृत्ति १९७५

४. भारतोय संस्कृतिकोश—सम्पादक पं० महादेवशास्त्री जोगी खण्ड ७

●

---

१. ई० बी० टेलर, 'प्रीमेटिव कल्चर' पेज १

लोकगीतोंमें प्रकृति

डॉ० श्रीमती विद्या बिन्दु सिंह

प्रकृति मानवकी चिर सहचरी है। उसके अनेकानेक रूप मानवको सदासे प्रभावित करते रहे हैं। मनुष्यने प्रकृतिसे इतना सीखा है, इतना पाया है कि वह उससे कभी उऋण नहीं हो सकता।

लोकगीतोंमें प्रकृतिके नित्य बदलते रूपका, उसके सौन्दर्यका वर्णन तो है ही, इसके साथ ही उसमें प्रकृतिके साथ मनुष्यके गहरे आन्तरिक सम्बन्ध भी व्यक्त हुए हैं। मनुष्यके सुखमें प्रकृति हँसती है, दुःखमें रोती है, उसे ढाढ़स बँधाती है और सहायता करती है। आज मैं प्रकृतिके साथ मनुष्यके इसी गहरे सम्बन्धके बारेमें जो कि लोक-साहित्यमें जगह-जगह व्यक्त हुए हैं, चर्चा करना चाहूँगी।

लोकगीतों, कथाओंमें जब भी मनुष्य संकटमें रोता है, हंसका जोड़ा या कोई अन्य पशु-पक्षी अथवा वृक्ष उसका दुःख पूछता है, और मदद करता है।

लोकगीतोंमें प्रकृति पारिवारिक सम्बन्धोंमें बँधी है। आकाश पिता है, धरती माँ, वायु और बदली संदेश ले जानेवाले मित्र हैं। लोकमें सूर्य, चन्द्रमा, जल और अग्निको ही महत्त्वपूर्ण अवसरोंपर साक्षी बनाया जाता है। स्पष्ट है कि मनुष्यको मनुष्यसे अधिक इनपर विश्वास है; भरोसा है।

बच्चेके जन्मके समय आपत्ति-विपत्तिसे रक्षाके लिए सबसे पहले आग और पानी तथा बेलका काँटा, आदि सौरगृहके दरवाजेपर रख दिया जाता है। बाहरसे आनेवाला पानी और आगका स्पर्श करके ही भीतर जा सकता है। यह वैज्ञानिक दृष्टिसे स्वास्थ्यकर तो है ही इसके पीछे जो प्रकृतिके स्पर्शसे मिली ऊर्जा अथवा शक्ति और पावनताका बोध है उसका भी महत्त्व कम नहीं। आग आदिकी सुरक्षामें जच्चा-बच्चा अकेले भी छोड़ दिये जाते हैं।

इसीलिए गर्भवती सीता, रामके द्वारा घरसे निकाले जानेपर वनमें जब रोती है तो सबसे पहले उन्हें यही चिन्ता होती है कि कौन मेरे सौरग्रहके लिए आग, पानी, बेलका काँटा लाकर देगा और मेरी सौर जगेगा ? रात विपत्तिकी होगी। तब वनदेवी ही उन्हें ढाढ़स बँधाती हैं कि तुम्हारे लिए यह सब करूँगी।

जेठं बइसखवा क घमवा त तपैली मुसुरिया,
रामा जे सोताके निसारैं त गरुए गरभ सेती हो।
छापक पेड़ छिउलियन पतवन गहबर हो।
रामा तेही तर ठाढ़ो सीतल देई नयनासे नीर ढुरै हो॥
बनसे निसरी बन तपसिन सिया सुमुझावें हो।
सीता कौन बिरोग तुहरे जियराँ त नयना से नीर ढुरै हो॥
केन देइहैं अगियासे पनियाँ बेलहि केरी कँटिया हो।
तपसिन केन मोरी जगिहैं सौरिया, त रतिया विपति के हो॥
हम देवै अगियासे पनिया, बेलेहि केरी कँटियाउ हो।
सीता हम तुहरो जगबै सौरिया त रतिया सम्पत्ति के हो॥

× × ×

नारी जब भी दुखित होती है, प्रकृतिकी गोदमें, वनमें भागकर जाती है। दुःखी वन्ध्या नारीका रुदन सुनकर वनका पत्ता-पत्ता रो उठता है। वह बाघिन, नागिनसे विनय करती है कि मुझे खालो, डँस लो। पर उसे भी वनदेवी पुत्रका आशीर्वाद और सीख देती हैं। प्रकृतिके पास जाकर कोई खाली हाथ नहीं लौटता—

वनवा म बिलपति तिरिया त वन पात रोइ उठे हो।
रामा निसरिन आवो बन बाघिनि हमके तूँ खाइ लेउ हों॥
बनसे निसरीं बन तपसिनि दुःख सुख पूछैं हों।
तिरिया कौन बिरोग तुहरे जियराँ त बन बीच कलपौ हो॥
नाहीं हमें सासु-ससुर दुःख, नाहीं नैहर दूरि बसै हो।
तपसिनि एक रे होरिलवा के कारन, पुरुष बोलिया बोलै
घरसे निसारैं हो॥
जाहु न तिरिया तूँ घर अपने, पियारे सजन घराँ हो।
तिरिया आजु के नवयें महिनवाँ होरिल तुहरे होइहैं हो॥

वन देवी उस घरमें अनुराग, अपनत्व, विश्वासका भाव लेकर जानेको कहती हैं कि वह घर तुम्हारे प्रिय साजनका है, तुम्हारा है। जिससे कि तब उस घरमें जाना निष्फल न होगा। तुम्हारी कोख हरी होगी।

इसी प्रकार परदेशी पतिकी पतिव्रता पत्नी पर जब कोई लांछन लगाता है। तो वह पूरे विश्वासके साथ अग्नि-परीक्षा देनेको तैयार होती है। उसका विश्वास जीत जाता है। वह जब अग्निकी सौगन्ध खाकर खौलते तेलमें हाथ

डालती है तो वह शीतल जल बन जाता है। गंगाकी सौगन्ध खाती है तो भरी गगरी सूख जाती है, सूर्यकी सौगन्ध खाती है तो सूर्य छिप जाते हैं—यह भाव एक चक्कीके गीतमें देखिये—

जब बहिनी चलीहैं अगिनी किरियवाँ,
खौला तेल भये जूड़ पनियाँ हो राम।
जब बहिनी चलीहैं गंगा किरियवाँ,
गगरी गई हैं झुराई हो राम॥
जब बहिनी चलीहैं सुरुजू किरियवाँ,
सुरुजू छिपित होई जालैं हो राम॥

× × ×

वृक्षका सहारा सबसे बड़ा सहारा होता है। एक दुःखी विधवाके हृदयका हाहाकार एक गीतमें सुनिये। काश, दरवाजेपर कोई वृक्ष ही होता जिसकी डालको झुकाकर थामती और जिसकी छाँहमें खड़ी होती।

जौ दुआरे एकौ रुखवे होतै, वनहींके तरे होत्यों ठाढ़ि तुहैं बिन।
जौ दुआरे एकौ निमिया होतीं, वनके ओनवत्यौं डारि तुहैं बिनु॥
बिगरी मोरी प्राणनाथ तुहैं बिनु॥

× × ×

साहित्यमें हंस, तोता, मैना, काग संदेशवाहकके रूपमें तो सदासे आते ही रहे हैं। पर लोकगीतोंमें पाला हुआ तोता बेटीका घर खोजता है—

सावन सुगना मैं गुर घिउ पालेउँ, चैत चना केरी दालि रे।
अब सुगना तूँ भयउ सयनवा, बेटो कै वर हेरि लाउ रे॥
उड़त उड़त सुगना जाया दूरि देसवाँ, बइठेउ डरिया ओनायँ रे।
डरिया ओनाय सुगना पंख फुलायउ, चितएउ नजरिया घुमाइ रे॥
जेहि घर ऐ सुगना सम्मति देख्या, चरनो बन्हें बैल गाय रे।
जेहि घर ए सुगना सम्पति देख्या, बेटी कै रच्यौ बियाह रे॥

प्यारे तोते! तुम्हें सावनमें गुड़, घी, चैतमें चनाकी दाल, यानी जब जो मिला, प्यारसे खिलाकर पाला। अब तुम सयाने हो गये, बेटीका घर ढूँढ़ लाओ। दूर-दूर उड़कर हर घरके भीतरकी बात भी तुम जान सकते हो, घरमें सम्पत्ति हो, दरवाजेपर गाय बैल बँधे हो, घरमें सम्मति हो—प्रेम हो वहीं बेटीका रिश्ता तय करना।

जब विवाहकी तिथि तय हो गयी तो प्रत्येक कर्मंठमें अब तालाबकी आवश्यकता है तो अब कुँआकी, अब आम, पल्लव जरूरी है तो अब हरा बाँस और हरी दूब, फूल और फल। सबसे पहले इन्हीं प्राकृतिक उपकरणोंका ही पूजन भी किया जाता है। भूमिको तेल, सिन्दूर, हर्दी चढ़ाना, कुँआ पूजना आदि इसके उदाहरण हैं।

वर-वधू बैठेंगे तो लकड़ीके पीढ़ेपर या ढाकके पत्तल पर। और तो और गीत गाकर प्रकृतिके सभी उपादानोंको न्योता दिया जाता है। उसमें, साँप, गोंजर, बिच्छू, आँधी-पानी, आदिको भी बुलावा दिया जाता है पर आकर चुपचाप छिपकर बैठकर देखने, कोई शरारत या उत्पात न करनेकी भी हिदायत होती है।

विवाहका न्योता भेजना सबसे जरूरी काम है और वह लेकर जानेको काला भौंरा बुलाया जाता है। भला मीठे बोलवाले गुनगुनाते क्षण भरमें इधरसे उधर उड़कर बैठने, आने जानेवाले भँवरेसे बढ़कर योग्य सुपात्र और कौन हो सकता है निमंत्रण लेकर जानेवाला—

अरे अरे कारे भँवरवा, करिया तोरी जतिया
भँवरा मोरे घरे परल बियाह नेवत दै आवहु।
अरगन नेवतेउँ परगन, सातो ननियाउर
भँवरा एक न नेवतेउ बीरन भइयाँ कि जेनसे मैं रुठलि॥

मुँडेरपर बैठा काग तो जाने कबसे किसीके आनेका शुभ शकुन लेकर आता रहा है और उड़ा-उड़ा कर सन्देश देनेको भेजा जाता रहा है। यही काम आँगनके चन्दनके पेड़पर बैठकर पुत्र होनेकी भविष्यवाणी करके सोनेसे चोंच मढ़ाने और दूध-भात खिलानेका वचन भी पाता है—

मोरे अँगनवाँ चन्नन रुखवा त लहर लहर करै,
हो अरे सखिया तेहिपर बोलै एक कागा त बोलिया सोहावनि।
किय तूँ नइहरवा कै पठवा, कि पिया कै सनेसिहा
हो अरे कागा कौन सगुन लै आया, बोलेउ मोरे अँगना
नाहीं हम नइहरे कै पठवा, न पिया कै सनेसिहा हो
रानी आजुके नववें महिनवाँ होरिल तुहरे होइहैं हो।
आजुके नववें महिनवाँ हरिल हमरे होइहैं हो
कागा सोनवाँ मढ़ैबै तोरा ठोर त दूध भात भोजन हो॥

प्रकृतिसे इतना गहरा तादात्म्य लोक संस्कृतिमें ही देखनेको मिलता है। पेड़-पौधे, नदी, तालाब, कुँआ सबमें संवेदना है, जीवन है, इसीलिए लोक विश्वासके अनुसार रातमें फूल-पत्ती तोड़ना मना है। अधिक रात बीतनेपर पानी भरना बहुत जरूरी होनेपर पहले कंकड़ी मारकर कुँएको जगा लेते हैं तभी पानी भरते हैं। रातमें सीटी बजाना, पक्षीके बसेरेकी जगहपर शोर करना या उन्हें छेड़ना मना है।

इतनी गहरी संवेदना हमें प्रकृति ही देती है। लोकगीत बार-बार कहते हैं कि प्रकृतिसे मनुष्यका जन्मसे लेकर मृत्यु तक सहज मानवीय सम्बन्धोंका रिश्ता है।

प्रकृति हमें आश्रय देती है, हमारी रक्षा करती है, हमारी हर जरूरतको पूरा करती है, हमारे सुख, दुखकी साक्षी है अतः उससे जुड़कर ही हम सुखी रह सकते हैं। प्रकृतिसे कटकर हम नितान्त अकेले हो जायेंगे, जी नहीं सकेंगे। प्रकृतिसे जुड़कर ही हम मनुष्य बने रह सकते हैं क्योंकि उसीने हमें मनुष्यके रूपमें विकसित किया है। उसके साहचर्यने ही हमारे जीवनमें कोमलता, सहन-शक्ति, सौन्दर्य-बोध और स्नेहकी चेतना दी है। हमें मानवताकी रक्षाके लिए, अपनी अस्मिता बनाये रखनेके लिए प्रकृतिका निरन्तर साहचर्य चाहिए और आजके आपाधापी भरे भौतिकवादी युगमें तो यह अधिक आवश्यक हो उठा है। आज हम यन्त्रोंके बीच रहते-रहते अपनी शक्ति, अपनी पहचान और अपनी संवेदना खोते जा रहे हैं। क्या, यह वही भारत है जहाँ पशु-पक्षी, पेड़-पौधे सहज सम्बन्धोंमें बँधे थे। आज जब मनमें यह अविश्वास जगने लगता है तब हमारा लोक-साहित्य उस विश्वासकी ज्योति लेकर खड़ा हो जाता है—कि हाँ, तुम रास्ता भूल गये हो आओ मैं तुम्हारा मार्ग प्रशस्त करता हूँ। फिरसे अपनी प्रकृतिकी ओर लौटो, वह तुम्हें उसी सहज भावसे अपना लेगी।

यह वृन्दावन, वृन्दावनमें साँवरियाका रास, यमुनातटपर गोचारण, बंशीकी मादक पुकारमें सम्मोहित पशु-पक्षी चर-अचर, जगत, लीला पुरुषोत्तमकी समस्त लीलाका विकास, सब प्रकृतिके प्रांगणमें ही तो हुआ था। घनश्यामकी वह समस्त लीला हमें प्रकृतिसे जुड़े रहने, उसे आत्मसात् करनेकी प्रेरणा देनेके लिए ही तो थी।

आइये, हम सब लौटें उसी ओर। उसके स्पर्शमें निश्चय ही हमें युगपुरुष कृष्णके स्पर्शका विश्वास मिलेगा और मिलेगा चरम सुख।

जय राधा-माधवके केलि निकुञ्ज जय वृन्दावन !

●

ध्यान : शान्ति और आनन्द

योगिराज श्री स्वामी मनुवर्यजी महाराज (अहमदाबाद)

योगसे पूर्णत्वकी प्राप्ति होती है। इस दिव्यताकी प्राप्तिके लिए योग-साधना अनिवार्य है। समाधिका पर्याय है स्वरूपमें स्थिति या जीवात्मा, परमात्मासे ऐक्य। शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक पूर्णत्वकी प्राप्तिके लिए अष्टाङ्ग योगका अभ्यास अत्यन्त व्यवस्थित और वैज्ञानिक है।

जो व्यक्ति जगत्के त्रिविध तापोंसे मुक्ति पानेकी कामना करता है उसके लिए आवश्यक है कि वह अपने आपको ईश्वरको समर्पित कर दे। आत्मा और शरीरके सम्वादात्मक विकासके लिए मनुष्यको योगाभ्यास करना चाहिए। मनुष्यका शरीर आत्म-साक्षात्कार-रूपी ध्येयको प्राप्त करनेका एक उत्तम साधन है। इस शरीरको किस प्रकारसे निर्मल-तन्दुरुस्त एवं योग-साधनाके लिए अधिकारी बनाकर मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक विकासके लिए तैयार करना यह समस्या है। केवल योग ही पूर्ण सन्तोषजनक रूपसे इस समस्याका समाधान कर सकता है।

मनुष्यने चन्द्रकी धरतीपर अपना कदम रख दिया, किन्तु वह आजतक अपने भावात्मक, नैतिक और आध्यात्मिक विकासकी ओरसे बिलकुल उपेक्षित-उदासीन रहा है। वह स्वयं अपने आपकी खोजमें भटकता रहा है, जो कि उसके निकटतम है, फिर भी अत्यन्त दूर! क्योंकि उसकी दृष्टि बहिर्मुख रही है। शाश्वत सुखकी प्राप्तिके लिए उसे अपनी दृष्टि अन्तर्मुख बनानी होगी—भीतर मुड़ना होगा। यदि वह अपने अज्ञानकी निद्रासे नहीं जागेगा तो, शाश्वत आनन्दकी बहुमूल्य निधिसे वञ्चित रह जायेगा, जो उसके भीतर है। और जब तक वह नहीं मुड़ेगा तबतक दुनियाके नश्वर सुखोंकी लालमामें अशान्त रूपसे भटकता रहेगा तथा आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक बाधाओंसे मुक्त नहीं होगा।

अष्टाङ्गयोग मोक्षका एक साधन है। मुक्तिकी इस विद्याको प्राप्त करनेके लिए साधकको गम्भीरतापूर्वक यम-नियमोंका अभ्यास करना चाहिए। यम-नियम—अहिंसा, सत्य-अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह ये पाँच यम हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान ये पाँच नियम हैं। इनमें-से अन्तिम तीन 'क्रियायोग' (योग-साधनामें स्वीकृत एक प्रणाली)के नामसे प्रचलित हैं।

इस प्रकार आत्म-साक्षात्कार ही मानव-जीवनका चरम लक्ष्य है और

शरीर ही उसका एक मात्र साधन है। अतः यह शरीर निर्मल, स्वस्थ तथा साधनाके योग्य होना ही चाहिए।

साधनाके लिए अनुकूल स्थितिका निर्माण करनेमें सात्त्विक आहारका महत्त्वपूर्ण योगदान है। योग-साधनाके लिए केवल शरीर ही नहीं, मन और बुद्धि भी हमारे साधन हैं। अतः आहार, निद्रा और व्यवहारमें साधकको संयम रखना चाहिए।

यम-नियम और सात्त्विक आहारके साथ अभ्यास और वैराग्य, जीवन-नौकाको आगे बढ़ानेके लिए श्रेष्ठ साधन हैं। वैराग्यके बिना कोई भी व्यक्ति किसी तरहकी प्रगति नहीं कर सकता। वैराग्यके साथ चित्त-वृत्तिको आत्मासे जोड़नेके लिए अभ्यास अत्यन्त जरूरी है। क्योंकि चित्त बार-बार संसारमें उलझना चाहता है। यह उसका स्वभाव है।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि साधकके लिए अभ्यास और वैराग्यका एक साथ होना क्या जरूरी है? क्या केवल वैराग्य पर्याप्त नहीं हो सकता? इस प्रश्नके उत्तरमें नीचे दिया गया उदाहरण पर्याप्त होगा।

यदि हम जलाशयमें किये गये पानीके संग्रहके साथ वैराग्यकी तुलना करें तो अभ्यास उस संगृहीत जलको विशिष्ट स्रोतके माध्यमसे आवश्यक क्षेत्रोंकी दिशामें ले जानेकी प्रक्रिया है।

अतः हम कह सकते हैं कि वैराग्य निषेधात्मक है और अभ्यास है स्वीकारात्मक। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है कि,

'अभ्यासेन तु कौन्तेय-
वैराग्येण च गृह्यते।

अर्थात् वैराग्य और अभ्यासके द्वारा कोई भी व्यक्ति अपने आपको एकाग्र कर सकता है। एकाग्रताकी प्राप्तिके लिए साधकको नियमित रूपसे योगाभ्यास करना चाहिए। सभी योग-उपनिषदोंने सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन आदि आसनोंको एकाग्रताके लिए खूब सहायक माना है।

साधक अपने श्वास पर नियन्त्रण रखकर सुख और शान्ति प्राप्त कर सकता है। प्राणायम मनको शुद्धि करता है एवं तमस्, रजस्को दूर कर सात्त्विकताके उद्रेकसे भीतरकी शान्ति प्रदान करता है। वह मनको अन्तर्मुख बनाकर धारणा, ध्यान और समाधिके लिए तैयार करके स्वबोध या आत्म-साक्षात्कारकी उच्चकोटिपर पहुँचा देता है।

चित्तकी एकाग्रताके लिए प्रणवोपासना भी एक साधन है। प्रणव यानी ईश्वरका प्रतीकात्मक रूप। (तस्य वाचकः प्रणवः) विशेष रूपसे मौन भी एक सुन्दर साधना है। क्योंकि वह विचारोंको पूर्ण नियन्त्रित करके शारीरिक स्तरसे लेकर मानसिक स्तर तक विस्तृत होता है।

एकाग्रता, ध्यान, समाधि और कैवल्यके लिए एक सरल प्रक्रिया—

इस प्रकार 'योगसूत्र' तथा योग-सम्बन्धी अन्य ग्रन्थोंमें योगकी विविध पद्धतियाँ और प्रकार बताये गये हैं, किन्तु वे केवल एकाग्रताके साधन मात्र हैं। निर्वीज समाधि या आत्मबोधमें सीधे रूपसे सहायक नहीं हो सकते। यहाँ एक सरल पद्धति दी जा रही है। जिसे हरकोई आसानीसे अपना सकता है।

'सोहम्' जपमें जप और ध्यान साथ-साथ चलते हैं। जब आप श्वास लेते हैं तो वहाँ 'पूरक' होता है—वह है 'सो' और वह हृदयसे लेकर नाभि तक पहुँचता है। वह वहीं स्थित होकर प्राणवायुमें विलीन हो जाता है। यद्यपि आपने निःश्वास बाहर नहीं निकाला, यानी 'रेचक' नहीं किया अतः वहाँ 'हम्' नहीं है।

इस समयके दौरान—इस विराम समयके सन्धि-स्थानमें 'पूरक' 'रेचक' अथवा अपान-प्राण या 'सो' और 'हम्'के बीचमें—'पूरक' और 'रेचक' के बीचमें एक स्वाभाविक क्रियाओंसे राहत अन्तः निःस्फुरण-स्थिति होती है, उसी स्थितिमें रहो, और तादात्म्यका अनुभव करो। वही ध्यान है।

इस प्रकार जब आप श्वास छोड़ते हैं तो 'रेचक' करते हैं। वह 'हम्' है। नासाग्रसे बाहर निकलनेवाली वायु अपानवायुमें विलीन हो जाती है। और तब, जबकि आप श्वास भीतर नहीं ले रहे तो वहाँ पूरक नहीं है। अतः वहाँ 'सो' नहीं है। इस स्थितिके दौरान यानी कि 'रेचक' और 'पूरक'के बीच प्राण और अपानके तथा 'हम' और 'सो' के सन्धि-स्थानमें अथवा रेचकके लयस्थानमें बाहर भी स्थितिकी अनुभूति होती है। वह बाह्य कुम्भकके साथ नि.स्फुरणकी स्वाभाविक स्थिति है। यहाँ हम क्षणभरके लिए स्वरूप-ध्यान, आत्मध्यान और ब्रह्मध्यानकी अनुभूति करते हैं। ऐसा ही अभ्यास योगवासिष्ठ तथा उत्तरगीतामें सुन्दर रूपसे निरूपित किया गया है।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको कहते हैं—

पुटद्वय - विनिर्मुक्तो
वायुर्यत्र विलीयते।
तत्र संस्थं मनः कृत्वा
तं ध्यायेत्पार्थ ईश्वरम्॥
निर्मलं तं विजानीयात्
षडूर्मिरहितं शिवम्।
प्रभाशून्यं मनःशून्यं
बुद्धिशून्यं निरामयम्॥

अर्थात्—'दोनों नथूनोंसे निकलकर श्वास जहाँ विलीन होता है, वहाँ मनको अच्छी तरह स्थिर कर हे पार्थ! ईश्वरका ध्यान धरो। उस ईश्वरको निर्मल, षड्विकारोंसे मुक्त, शिवकल्याण-स्वरूप, वृत्तिशून्य, मन-शून्य, बुद्धि-शून्य तथा पाप रहित समझो।'

इस अभ्यासमें प्राणायाम; जप और ध्यान ये तीनों स्वाभाविक रूपसे होते हैं और अपने आप होते हैं। जिस प्रकार स्व-स्वरूप, ब्रह्म-आत्मा स्वाभाविक हैं।

इस अभ्यासके लिये हठपूर्वक-प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं है। ब्रह्म-ज्ञानके लिए केवल आत्ममान आवश्यक है। उसी प्रकार प्राणायामके इस अभ्यासमें जप और ध्यानके साथ अनुसन्धान आवश्यक है। जैसे ही स्व-स्वरूप-निश्चय दृढ़ होता जाता है तो जीवन-मुक्ति सुसिद्ध होती है और इस प्रकार अभ्यास वृद्धिके साथ समाधि-स्थिति प्राप्त होती है, उसीके साथ उसकी विविध भूमिकाओंकी अनुभूति होती है और वहींपर योग-प्रक्रिया समाप्त हो जाती है। इति कर्तव्यता या कृतकृत्यता मुमुक्षुओंके मनोनाशके लिए उत्तम अभ्यास है।

राजयोगके साधनोंमें यह अभ्यास भी एक साधन है। गोरख-पद्धतिमें बताया गया है कि—

अनया सदृशी-विद्या,
अनया सदृशो जपः।
अनया सदृशो ज्ञानं,
न भूतं न भविष्यति॥

अर्थात् इसके समान न कोई विद्या, जप, और ज्ञान है, न कभी था और न कभी होगा। साथ ही साथ यह भी कहा गया है कि—

प्राणविद्या महाविद्या
यस्तां वेत्ति स वेदवित्।

अर्थात् यह प्राणविद्या ही महाविद्या है और जो भी इसे जानता है, वही वेदका सच्चा ज्ञानी है।

इस प्रकार जब साधनाका अन्तिम लक्ष्य ब्रह्म है, तो ध्यान है उसकी एक स्वाभाविक अनुभूति। उस समय केवल कुम्भक-प्राणायाम स्वयमेव होता है। प्राण और मन अन्योन्याश्रयी हैं। अतः प्राणका निरोध भी स्वयमेव होता है। इसी-लिए जब दोनोंमें-से एक नियन्त्रित हो, दूसरेका निरोध करनेकी आव-श्यकता नहीं होती।

यह हमारी अमूल्य सांस्कृतिक परम्परा प्राचीन ऋषि-मुनियोंके द्वारा हमें विरासतमें मिली है। नयी पीढ़ीको इस मूल्यवान् पैतृक सम्पत्तिके बारेमें जागृत रहना चाहिए। इस पैतृक सम्पत्तिकी प्राप्तिके लिए हमारे लड़के-लड़कियोंको तमाम शैक्षणिक-विद्यालयोंमें योग-शिक्षा देनी चाहिए। मानव-जीवनको दिव्य बनाते हुए तमाम वैज्ञानिक, शिक्षाशास्त्री और राजनीतिज्ञ योगाभ्यासके द्वारा अपनी-अपनी समस्याएँ सुलझा सकते हैं, और साथ ही सम्वादितापूर्ण, आन्तरिक, शारीरिक तथा आध्यात्मिक विकास कर सकते हैं।

(शेष पृष्ठ २८९ पर)

मुक्ति-मार्ग

श्री भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'
नारायण कार्यालय, अयोध्या

भारतीय या हिन्दू संस्कृतिके अनुसार मानव जीवनका लक्ष्य 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं'के महाकष्टसे मुक्ति पाना है। अनेक योनियोंमें भ्रमण करनेके पश्चात् प्रभु-कृपासे मनुष्य-योनि प्राप्त होती है और यही वह योनि है जिसके द्वारा जीव इस आवागमनके चक्करसे मुक्त हो सकता है। इतर योनियाँ मात्र भोग-योनियाँ हैं। गोस्वामीजी कहते हैं—

वड़े भाग मानुष-तन पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा॥१॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥२॥
सो परत्र दुख पावइ, सिर धुनि धुनि पछताइ।
कालहिं कर्महि ईश्वरहिं, मिथ्या दोष लगाइ॥

वैसे तो मुक्ति-हेतु अनेक साधन हैं किन्तु दो मार्गोंपर विशेष बल दिया गया है—एक ज्ञानयोग दूसरा भक्तियोग। ज्ञान और भक्ति दोनोंमें साधनाके लिए जो ब्रह्म या ईश्वरमें श्रद्धा एवं विश्वास होता है उसीको साधन-भक्ति कहते हैं क्योंकि उसके अभावमें साधना किसकी होगी? इस साधन भक्तिके दो रूप हैं—एक कठोर दूसरा कोमल। जो कठोर हृदयके अधिकारी हैं वे साधन-भक्तिका अनुष्ठान करके धीरे-धीरे आत्म-शुद्धि करते हैं, तत्पश्चात् श्रवण, मनन, निदिध्यासन योगक्रिया द्वारा आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाते हैं। उनकी दृष्टिमें शरीर और संसारका अस्तित्व नहीं रह जाता तथा वे विशुद्ध चेतनके रूपमें सर्वदाके लिए स्थित हो जाते हैं। संक्षेपमें यह ज्ञानयोग हुआ। अध्यात्म रामायणमें श्रीराम कहते हैं—

बुद्धिप्राणमनोदेहाहं कृतिभ्यो विलक्षणः।
चिदात्माहं नित्यशुद्धो बुद्ध एवेति निश्चयम्॥

अर्थात् जिससे ऐसा बोध होता है कि मैं बुद्धि, प्राण, मन, देह और अहंकारसे परे विलक्षण, नित्य शुद्ध बुद्ध आत्मा हूँ, वही ज्ञान है ऐसा मेरा (श्रीरामका) मत है।

ज्ञानयोगी निराकारोपासक है। वह 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'के सिद्धान्तानुसार साधना करता है। समस्त सृष्टि एवं चराचर ब्रह्मरूप ही है और वह स्वयं भी वही है। अतः उसी ब्रह्ममें लय हो जाना उसके साधनका लक्ष्य है और जीवकी मुक्ति है। ज्ञानी भक्तकी प्रशंसा करते हुए भगवान् कृष्ण कहते हैं, 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' अर्थात् ज्ञानी तो मेरा ही स्वरूप है—ऐसा मेरा मत है। अष्टांग-योग साधन, सतत अभ्यास और वैराग्य तथा ब्रह्मज्ञानी गुरुकी कृपासे यह उपलब्धि प्राप्त होती है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

क्लेशोऽधिकारस्तेषामव्यक्तासक्त - चेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

अर्थात् निराकार ब्रह्ममें आसक्त चित्तवाले पुरुषोंके लिए साधनमें बहुत क्लेश और परिश्रम है क्योंकि देहाभिमानीसे अव्यक्तमें गति दुःखसे या क्लेशपूर्वक होती है। श्रीराम भी लक्ष्मणजीसे कहते हैं—

ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका॥

कलिकालमें तो यह साधन और कठिन है।

दूसरा वर्ग कोमल हृदयका अधिकारी है वह भगवान्की लीला, दयालुता, सहृदयता, कृपा, अनुग्रह आदिका वर्णन सुनकर या गान कर द्रवित हो जाता है, आँखोंसे आँसू गिरने लगते हैं, गला रुँध जाता है और शरीर रोमाञ्चित हो जाता है। इन कोमल भावनाओंके द्वारा उसमें साधन-भक्तिका उदय होता है और भगवान्के शब्दोंमें 'भक्त्या संजातया भक्त्या'। अर्थात् भक्तिकी साधनासे प्रेमा-भक्तिका उदय होता है जिससे वह परमात्माको प्राप्तकर कृतकृत्य हो जाता है।

प्रारम्भिक अवस्थामें भक्त सगुणोपासक होता है। अतः उसके लिए मनका 'टेका' अर्थात् उसे केन्द्रित करनेका साधन होता है, श्रीराम कहते हैं—

सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोर पुरान श्रुति गाईं॥

ज्ञान और वैराग्य पुरुष वर्ग हैं। अतः प्रतिपल ज्ञानयोगीको माया-नारीके मोहसे सतर्क रहना पड़ता है, किन्तु भक्ति नारी-रूप है। अतः 'मोह न नारि नारिके रूपा'। इसके अतिरिक्त गोस्वामीजी कहते हैं—

पुनि रघुबीरहिं भगति पियारी। माया खलु नर्तकी बिचारी॥१॥
भगतहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहिं डरपति अति माया॥२॥

भगवद्गीतामें तो विराट्रूप दर्शनके पश्चात् अर्जुनकी प्रार्थनापर भगवान्ने अपना वास्तविक चतुर्भुजरूप उन्हें दिखाया और कहा, 'अर्जुन! मेरा यह रूप

ज्ञान, तपस्या, वेदाध्ययन आदिसे नहीं दृष्टिगत हो सकता। यह तो अनन्य भक्तिसे ही देखा जा सकता है और इसमें प्रवेश हो सकता है।

भक्ति प्रधान श्रीमद्भागवतका कहना है—

न तपोभिर्नवेदैश्च न ज्ञाने नापि कर्मणा।
हरिर्हि साध्यते भक्त्या प्रमाणं तत्र गोपिकाः॥

अर्थात् न कोरे ज्ञानसे, न वेदाध्ययन और कर्म काण्डसे भगवत्प्राप्ति सम्भव है। वह तो प्रभुकी अनन्य भक्तिसे ही सम्भव है। गोपियाँ न तो वेदान्ती थीं, न ज्ञानी किन्तु वे श्रीकृष्णकी अनन्य भक्त थीं और उन्हें अखिल ब्रह्माण्ड कृष्णमय दीखता था। वे कहतीं, 'जित देखौं तित श्याममयी है'। वास्तवमें वे कृष्णलीन हो गयी थीं।

सच्ची भक्ति उसे कहते हैं जिसके द्वारा परमात्मामें अनन्य प्रेम हो। शाण्डिल्य ऋषि कहते हैं, 'सा (भक्ति) परानुरक्तिरीश्वरे'। जगत्के पदार्थों एवं प्राणियोंके प्रति जो मोह होता है उसे राग कहते हैं, धनादि विषयोंके प्रति जो मोह होता है उसे आसक्ति कहते हैं, और प्रभुके प्रति जो निर्मल और सच्चा प्रेम होता है उसे भक्ति कहते हैं।

वास्तवमें ज्ञान और भक्तिमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। ज्ञानकी पराकाष्ठा भक्ति है और भक्तिकी पराकाष्ठा ज्ञान। मार्ग और साधन प्रणाली भिन्न-भिन्न हैं पर लक्ष्य एक है। इसीसे गोस्वामीजी कहते हैं—

भगतिहि ज्ञानहि नहि कछु भेदा।
उभय हरहिं भव-सम्भव खेदा॥

चाहे ज्ञान मार्ग हो, चाहे भक्ति मार्ग, दोनों हीमें त्याग, लगन, परिश्रम निर्मल-भाव, आत्म समर्पण, मनोनिग्रह, श्रद्धा, विश्वास आदिका होना आवश्यक है। यदि एकमें समस्त कर्म त्याग करके योग साधन द्वारा समाधि-अवस्था प्राप्त करनेका विधान है तो दूसरेमें निष्काम कर्म, फलाशाका त्याग, भगवदर्थ कर्म, शरणागति, समदृष्टि, अनन्य भक्ति आदिकी आवश्यकता है जिससे भगवत्प्राप्ति होती है। सांसारिक उपलब्धि भी बिना परिश्रम, लगन और त्यागके नहीं होती फिर मुक्ति तो परम उपलब्धि है।

गोस्वामीजी कलियुगमें हुए, अतः वे इस युगकी कठिनाइयोंको जानते थे जिसका वर्णन भी उन्होंने रामचरित मानसके उत्तरकाण्डमें किया है; अतः उन्होंने इस युगके लिए साधनका एक सरल मार्ग भी बताया है और वह है नाम जप। वे कहते हैं—

सुनु व्यालारि कराल कलि मल अवगुन आगार।
गुनहु बहुत कलियुग कर बिन प्रयास विस्तार ।।१।।
कृतयुग त्रेता द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि विषै नाम ते पावहिं लोग ।।२।।

कलियुग जोग न जज्ञ न ज्ञाना। एक अधार राम-गुन गाना।।
सब भरोस तजि जो भज रामहिं। प्रेम समेत गाव गुन-ग्रामहिं।।
सोइ भव तर कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं।।

राम नाम लेकर शङ्करजी विषपान कर गये जो उनके लिए अमृत हो गया। कहा जाता है कि इसी तरह कृष्ण नाम लेकर मीराबाई विषपान कर गयी और उसका कोई प्रभाव उनपर नहीं पड़ा। गोस्वामीजी तो कहते हैं—

भाव कुभाव अनख आलसहूँ। नाम लेत मंगल दिसि दसहूँ।।

यही देवदूतोंने भी यमदूतोंसे कहा जब वे अजामिलके जीवात्माको लेने आये थे। उसने मृत्यु समय 'नारायण' नाम उच्चारण किया था जो उसके पुत्रका नाम था। इसीसे लोग बच्चोंका नाम भगवन्नामानुसार रखते हैं।

नाम-जपकी एक विशेषता यह भी है कि इसके लिए समय कुसमयका विशेष बन्धन नहीं है और न जाति-पातिका कोई विचार। सभी वर्गके स्त्री-पुरुष इसके अधिकारी हैं। इसमें तो, 'हरिको भजै सो हरिका होई'का विधान है। कहते हैं—

गनिका, गज, गीध अजामिलके गनि पातक पुंज सिराहि न जू।
लिये वारक नाम सुधाम दियो जिहि धाम महामुनि जाहिं न जू।।

स्मरण रहे कि यह नाम-जप भी निर्मल मन और शुद्धाचरण रखते हुए किया जाना चाहिए तभी वह भगवत्प्राप्तिका साधन हो सकता है। 'मुखमें राम बगलमें छुरी' अथवा 'राम नाम जपना, पराया माल अपना'की स्थिति मनमें रखते हुए कोई सिद्धि कैसे मिलेगी? श्रीराम कहते हैं—

निर्मल मन जो सो मोहिं पावा।
मोहिं कपट छल छिद्र न भावा।।

अन्तर्यामी भगवान्को धोखा नहीं दिया जा सकता। प्रत्येक साधनमें भक्ति, श्रद्धा, विश्वास, त्याग एवं मन और हृदयकी निर्मलता आवश्यक है।

राष्ट्रीय चरित्रकी समुन्नति

डा० रामचरण महेन्द्र, एम० ए०, पी-एच डी०

शिक्षाका उद्देश्य बालकके शिवत्व अर्थात्, आध्यात्मिक पक्षका विकास है। हम शिक्षा द्वारा केवल विद्यार्थीकी बुद्धि ही नहीं विकसित करते प्रत्युत उसके दैवी गुणोंका भी विकास करते हैं। माता-पिता और शिक्षक बच्चोंको उनमें सोये हुए सद्गुणोंके विकासमें हर प्रकार सहायक बनते हैं। प्रारम्भमें प्रत्येक बालक धीरे-धीरे पशुत्वसे मानवत्व और मानवत्वसे देवत्वकी ओर विकसित होता है। उच्च आत्माओंके सत्संग और पथ-प्रदर्शनसे वह उच्च जीवनका महत्त्व समझने लगता है। उसका विवेक जाग्रत होता है। शिक्षाकी सफलता इस बातमें है कि बालक बुद्धिमान्के साथ विवेकवान् भी बने, स्वतन्त्ररूपसे उचित-अनुचितमें भेद करना सीखे जैसे-जैसे बच्चेमें नीर-क्षीरका विवेक विकसित होता है,वैसे वैसे सत्य, न्याय, प्रेम, सहयोग, क्षमा, दया, करुणा आदि तत्त्वोंका महत्त्व और उनको धारण करनेसे जीवनमें होनेवाले लाभको समझने लगता है। अतः शिक्षाका मूल उद्देश्य बच्चेको बुद्धिका ही नहीं, उसकी नैतिकताका भी विकास है।

धर्म शिक्षाका अनौपचारिक सक्रिय साधन है। धर्मके शैक्षिक कार्य देशमें होनेवाले सामाजिक परिवर्त्तनोंके साथ घटते बढ़ते रहे हैं। शिक्षा पर कभी धर्म प्रभाव अत्यन्त गहन हुए तो कभी क्षीण हो गये। बौद्धोंके कालमें धर्म शिक्षाका एक अंग था। खेद है कि आधुनिक भौतिकवादी समाजमें धर्मका प्रभाव क्षीण हो गया है।

'धर्म' कोई स्थूल वस्तु न होकर मानव-मनकी शुभ सात्त्विक भावना तथा ईश्वरीय सत्तामें विश्वास है। एक ही अदृश्य सत्ताके पुजारी होनेके कारण एक धर्मको माननेवाले परस्पर एक सूत्रमें बँधते हैं। धर्मके दो पक्ष हैं—आन्तरिक एवं बाह्य। आन्तरिक पक्षमें व्यक्तिगत विचार, भावनाएँ, संवेदनाएँ तथा विश्वास सम्मिलित हैं। बाह्य-पक्षके अन्तर्गत धार्मिक क्रियाएँ, पूजाकी नाना पद्धतियाँ, प्रार्थना, स्वाध्यायके ग्रन्थ आदि रखे जा सकते हैं।

विद्वान् डासनके अनुसार 'जब कहीं तथा जहाँ कहीं मनुष्य अपनी पहुँचसे ऊँची तथा रहस्यमयी बाह्य शक्तियों पर अपनेको निर्भर अनुभव करता है वही धर्म है।' वास्तवमें व्यक्ति जो उच्च दैवी तत्त्व धारण करता है, वे ही धर्म हैं। धर्मके दस तत्त्व माने गये हैं—धैर्य, क्षमा, दमन, स्वच्छता, इन्द्रिय-

विग्रह, विद्वत्ता, विवेकशीलता, सत्य एवं अक्रोध आदि। धर्मका उद्देश्य बच्चोंमें इन्हीं गुणोंको अधिकाधिक विकसित करना और इस प्रकार एक सफल जीवन जीना है।

धर्मके साथ जो भाव जुड़ा है, वह है नैतिकता। नैतिकता हमारे समाज की व्यवस्थाओंसे सम्बन्धित आचार-संहिताको कहते हैं। नैतिकताका लक्ष्य समाजके अतिरिक्त व्यवस्था, अनुशासन एवं आन्तरणको सभ्यताकी स्थापना है। धर्म मनुष्यकी वैयक्तिक आवश्यकता है, जब कि नैतिकता एक सामाजिक आवश्यकता है। धर्म मनुष्यकी आध्यात्मिक आवश्यकताओंकी पूर्ति करता है, नैतिकता स्वस्थ सामाजिक जीवनकी आधारशिला है। नैतिकताका उद्देश्य समुन्नत सामाजिक व्यवस्थाको स्थापना है। समाजके हितमें किये गए आचरण धर्मानुकूल होते हैं। इस प्रकार नैतिकता धर्मके लिए अति आवश्यक है। धर्मविहीन नैतिकता मूल-विहीन वृक्षकी भाँति है।

देशके उत्थानके लिए व्यक्तिके सद्गुणोंका विकास आवश्यक है। धार्मिक शिक्षाको अनिवार्य बनाये बिना शिक्षा जगत्में चरित्र का उत्थान नहीं हो सकता। धर्मका ज्ञान होनेसे मनुष्य पशुत्वसे ऊपर उठने लगता है। 'धर्म'को धारण करनेसे ही मानव सच्चे अर्थों में 'मानव' बनता है। धार्मिक शिक्षा द्वारा ही नयी पीढ़ीमें सदाचार,सत्य भाषण, ईमानदारी, दया, सहिष्णुता, परिश्रम जैसे अनेक नागरिक गुणोंका विकास हो सकता है। धार्मिक भावोंका विकास हो सकता है। धार्मिक भावोंका विकास ही भौतिक युगमें वास्तविक सुख और आध्यात्मिक शक्ति प्रदान कर सकता है। शिक्षा ही वह साधन है जिसके द्वारा नया आदमी पशु-कोटिसे धीरे-धीरे ऊँचे उठकर विवेकवान् और बुद्धिमान् मनुष्य बनता है।

वेदान्तके अनुसार शिक्षाका उद्देश्य मानव जीवनके उच्चतर आदर्शके अनुरूप पुनः संगठित करनेकी कला सिखाना है। जीवनको आदर्शवादी बनाकर उच्च और पूर्ण बनाना है। मनुष्यके लिए सत्य, न्याय, प्रेम, एकता, त्याग, निःस्वार्थ वृत्ति आदि जीवन-मूल्य (Values of life) जीवन विकासके आयाम हैं जिनको ओर उसे अग्रसर होना चाहिए। जब तक 'सब प्राणियोंमें एक ही आत्माका वास है'—यह सूत्र जीवनका आराध्य नहीं हो जाता, तब तक इन मूल्योंकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

●

मोक्ष-द्वार

(विनोबाजीके एक मराठी प्रवचनका हिन्दी-रूपान्तर)

कृष्णके सारे जीवनमें उनका बचपन बहुत ही मधुर है। बालकृष्णकी ही विशेष उपासना की जाती है। वे ग्वालबालोंके साथ गायें चराने जाते, उनके साथ खाते-पीते और हँसते-बोलते। इन्द्रकी पूजा करनेके लिए जब ग्वाल-बाल निकले, तो उन्होंने उनसे कहा—'इन्द्रको किसने देखा है? उसने हम पर उपकार भी ऐसा क्या किया है? लेकिन यह गोवर्धन पर्वत हमें प्रत्यक्ष दिखायी देता है। यहाँ गायें चरती हैं। इसमेंसे पानीके सोते निकलते हैं। अतः तुम इसकी पूजा करो।' वे ऐसी बातें ही उन्हें सिखाया करते। जिन गोपालकोंमें वे खेले, जिन गोपियोंसे हँसे-बोले, जिन गाय-बछड़ोंमें रमे, उन सबके लिए उन्होंने मोक्षका द्वार खोल दिया। परमात्मा कृष्णने अपने अनुभवसे यह सरल मार्ग बतलाया है। बचपनमें उनका काम गाय-बछड़ोंसे पड़ा, बड़े होने पर घोड़ोंसे। मुरलीकी ध्वनि सुनते ही गायें गद्गद हो जातीं और कृष्णके हाथ फेरते ही घोड़े फुरफुराने लगते। वे गाय-बछड़े और रथके घोड़े कृष्णमय हो जाते थे। पाप-योनि माने गये उन पशुओं को भी मानो मोक्ष मिल जाता था। मोक्ष पर केवल मनुष्यका अधिकार नहीं, बल्कि पशु-पक्षीका भी है—यह बात श्रीकृष्णने साफ कर दी है। अपने जीवनमें उन्होंने इसका अनुभव किया था।

जो अनुभव भगवान्‌को हुआ, वही व्यासजीको भी। कृष्ण और व्यास दोनों एकरूप ही हैं। दोनोंके जीवनका सार भी एक ही है। मोक्ष न विद्वत्ता पर अवलम्बित है, न कर्म-कलाप पर। उसके लिए तो सीधी-सादी भक्ति ही काफी है। 'मैं-मैं' कहनेवाले ज्ञानी पीछे ही रह गये और भोली-भावुक स्त्रियाँ उनसे आगे बढ़ गयीं। यदि मन पवित्र हो और सीधा-भोला पवित्र भाव हो तो फिर मोक्ष कठिन नहीं है।

महाभारतमें 'जनक-सुलभा-सम्वाद' नामक एक प्रकरण है। उसमें व्यासने एक ऐसे प्रसङ्गकी रचना की है, जिसमें जनक राजा ज्ञान-प्राप्तिके लिए एक स्त्रीके पास गये हैं। आप लोग भले ही यह करते रहें कि स्त्रियोंको वेदोंका अधिकार है या नहीं; परन्तु सुलभा तो यहाँ प्रत्यक्ष जनक राजाको ब्रह्म-विद्या सिखा रही है। वह एक मामूली स्त्री और जनक कितने बड़े सम्राट्, कितनी विद्याओंसे सम्पन्न! पर उन महाज्ञानी जनकके हाथ मोक्ष नहीं था। इसलिए व्यासदेवने उन्हें सुलभाके चरणोंमें गिरनेके लिए भेजा।

(शेष पृष्ठ २९२ पर)

पाश्चात्य स्वर्गके कुछ घिनावने पहलू

फरहत कमर एम० ए०

पाश्चात्य संसारके बारेमें हम जो कुछ पढ़ते, सुनते तथा देखते हैं, उससे वहाँके जीवनका एक ऐसा उज्ज्वल भौतिक चित्र हमारे सामने आता है कि हमारी आँखें चकाचौंध हो जाती हैं और ऐसा होना स्वाभाविक भी है—

● साफ-सुथरे बड़े-बड़े शहरोंकी सौ-सौ मंजिलोंवाली भव्य इमारतें, जिनमें लोग लिफ्टों द्वारा नीचे-ऊपर आते-जाते हैं। एयर कन्डीशनिङ्ग द्वारा हर मौसममें आरामदायक वातावरण बना रहता है।

● हर परिवारमें कम-से-कम एक कार। छोटे-छोटे सुखी परिवार। कपड़े धोने, सुखानेसे लेकर फर्श साफ करने तक की मशीनें—हर काम स्वचालित और तुरन्त। शरीरको कम-से-कम कष्ट !

● पहननेके लिए बढ़िया-से-बढ़िया कपड़ोंके ढेर और फल, मक्खन तथा अन्य खाद्य-पदार्थ इतने कि कूड़ेदानों और नालियोंमें फेंक दिये जायँ।

● चौड़ी चिकनी सड़कोंपर फिसलती ५-६ लाख रुपयेवाली सुन्दर चमकीली कारें जो थोड़ी पुरानी या खराब होनेपर शहरसे बाहर फेंक दी जाती हैं।

● सिनेमा, टेलिविजन प्रोग्राम, थियेटर, फैशन शो, होटल, नाच-गाना, मौज-मस्ती और पैसेकी रेल-पेल।

● नये-नये अविष्कार, नये-नये अनुसन्धान, उच्च शिक्षा, राकेट, लगातार उन्नति, खुशहाली।

● बड़े-बड़े उद्यान, लहलहाते फार्म।

यह स्वर्ग नहीं तो और क्या है ?

लेकिन इस स्वर्गका दूसरा पक्ष भी है जो बहुत ही भयावह तथा घिनौना है—बिलकुल इसी प्रकार जैसे शहरकी सड़कोंके किनारे पौधों तथा फूलोंसे सुसज्जित फुटपाथोंके नीचे फ्लश लाइनोंमें मलमूत्रसे भरे गन्दे पानीमें कीड़े रेंगते रहते हैं।

पाश्चात्य संसारमें अपराधकी गति बहुत तेज है। भरे पूरे शहरोंमें

दिनदहाड़े कत्ल, अपहरण तथा बलात्कारकी घटनाएँ होती रहती हैं और लोग तमाशा देखते रहते हैं। अमरीका में पिस्तौल रखनेपर कोई विशेष प्रतिबन्ध नहीं है। इस स्वतन्त्रतासे अधिकतर व्यक्ति जी भर कर 'लाभ' उठाते हैं और अपने क्रोधको गोलियाँ चलाकर शान्त करते हैं। कुछ लोगोंके लिए आदमीकी जान ले लेना इतना ही सरल है जैसे मिट्टीके खिलौनेको तोड़ देना। ऐसे लोगोंकी अन्तरात्मामें कत्ल या अपराधके बाद कोई चुभन भी नहीं होती। अन्तरात्मा मर जाती है और पश्चातापकी वह अग्नि मन्द पड़ चुकी है जो बिगड़े हुए आदमीको सीधे रास्तेपर ले आती है। अपराध कला बन जाये तो सुधारकी आशा कहाँ रह जाती है?

पाश्चात्य दुनियामें शराब तो इस प्रकार प्रयोग की जाती है कि यात्रा करते हुए पानी कठिनाईसे मिलता है, शराब आसानीसे मिल जाती है। लोग खानेके साथ पानीके बजाये शराब इस्तेमाल करते हैं। गाँजा, चरस, अफीम, भाँग इत्यादिकी मंजिलोंसे निकलकर ऐसी नशीली चीजें प्रयोग की जाने लगी हैं जिनका नशा कई-कई दिन चलता है। ये नशीले पदार्थ इतने खतरनाक होते हैं कि शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्यको नष्ट कर डालते हैं। एल० एस० डी० एक सामान्य नशा है जिसको इन्जकशन द्वारा शरीरमें पहुँचाकर व्यक्ति कई दिनके लिए मस्त हो जाता है—हवामें उड़ता हुआ अनुभव करता है, उसको नाना प्रकारके दृश्य दिखाई देते हैं और वह ट्रैफिककी लाल बत्तीको लाल परी समझ कर अपनी गाड़ी उसकी ओर दौड़ाकर दुर्घटनाग्रस्त हो सकता है। एल० एस० डी०के नशेसे होनेवाले अनुभवोंको 'आध्यात्मिक यात्रा' जैसा सुन्दर नाम दिया जाता है—अब यह कौन समझाये कि आध्यात्मिकता क्या होती है और इस प्रकारकी झूठी तसल्लियोंसे आत्माका उत्थान नहीं बल्कि पतन होता है।

नशेका सामान्य नतीजा होता है यौन सम्बन्धी दुराचार! रात रात भर ऐसी पार्टियाँ चलती हैं जिसमें बदमस्त स्त्री-पुरुषोंको यह होश नहीं होता कि वे कहाँ हैं, क्या कर रहे हैं और किसके साथ हैं। सभी पूरी तरह स्वतन्त्र हो जाते हैं और एक दूसरेकी उपस्थितिमें ऐसे लज्जाजनक काम करते हैं जिनका विवरण देना भी सभ्यता के विपरीत है। पशुओंसे यौन सम्बन्ध तथा समलिंगी सम्बन्धको भी कोई बुरी बात नहीं समझा जाता। ऐसा जीवन माँसपेशियोंको तबाह कर डालता है। ऐसी स्वतन्त्रता यौन सम्बन्धी रोगोंको जन्म देती है। यही कारण है कि पश्चिममें इन गलत

आदतोंमें फँसे अनेकों व्यक्ति मानसिक संतुलन और घातक यौन सम्बन्धी रोगोंका शिकार बनते जा रहे हैं। युवा पीढ़ीमें एक बड़ी संख्या लापरवाह आवारा और विलासी बन चुकी है—हिप्पीवाद जीवनके इस स्टाइलका परिणाम है।

सहानुभूति, शुद्ध हृदयता, प्यार, त्याग जैसे उच्च मूल्य तथा मानवीय सम्बन्धोंकी सूक्ष्मता अब पाश्चात्य संसारसे लगभग लुप्त हो चुकी है। बच्चोंको माता-पिताकी परवाह नहीं और माता-पिताको बच्चोंकी। बच्चोंको घरमें नौकरोंकी देख-रेखमें छोड़ कर माता-पिता अपने सैर-मनोरंजन में मस्त रहते हैं और बच्चे मनमानी करते हैं, बुरी सङ्गतमें फँस जाते हैं। जवान होते ही युवक-युवतियाँ जवानीकी शराबको जी भरकर पीना शुरू कर देते हैं। यौवनकी रंगीन भूल-भुलइयामें भटककर, वे विवाहसे पहले ही यौन अनुभव प्राप्त कर लेते हैं। एक लड़केका अनेक लड़कियोंसे और एक लड़कीका अनेक लड़कोंसे सम्बन्ध बनता-टूटता रहता है। परिणाम-स्वरूप हाई स्कूलमें पढ़नेवाली छात्राओंकी बड़ी सख्या गर्भवती हो जाती है। गर्भपात कोई विशेष बात नहीं और अवैध बच्चोंका पालन-पोषण कोई लज्जाका आस्पद नहीं। जबतक जी चाहा किसीके साथ रहते रहे और जब जी भर गया साथ छोड़ दिया। विवाह गुड़िया-गुड्डेकी शादी जैसा हो गया है और तलाक सामान्य-सी बात बनकर रह गयी है। विवाहित होते हुए भी घरसे बाहर अवैध सम्बन्ध स्त्री-पुरुष दोनोंके लिए सामान्य-सी बात है। मित्रताके सम्बन्ध अधिकतर कारोबारी तथा स्वार्थपूर्ण होते हैं और जरा-सी बात पर टूट जाते हैं।

आर्थिक क्षेत्रमें प्रकट-रूपसे खुशहाली दिखाई देती है और लोगोंकी आमदनी बहुत ज्यादा है परन्तु खर्च भी बेहिसाब है। ऐश्वर्य तथा विलासिताका वस्तुएँ आसानीसे किश्तों पर मिल जाती हैं और लोग इस चक्करमें पड़कर कर्जकी दलदलमें फँस जाते हैं। हर महीने बिल तथा किश्तोंको चुकानेमें आमदनीका बड़ा हिस्सा चुकाना पड़ता है और फिर खर्च पूरा करनेके लिए फालतू काम करना पड़ता है। अधिक व्यस्तता माँसपेशियोंको झकझोर देती हैं। मानसिक तनाव, हृदय रोग, रक्तचाप की शिकायतें बढ़ती जाती हैं। व्याकुल मनको नींदकी गोली द्वारा शान्त किया जाता है और फिर शिथिल पड़ जानेवाले शरीरको स्फूर्ति पैदा करनेवाली गोलियाँ खाकर चौकस करना पड़ता है। जीवन एक ऐसा जाल बनकर रह गया है जिसमें फँसकर विवश मनुष्य जितने हाथ-पाँव मारता है उतना ही और अधिक फँसता जाता है।

यह नर्क है या स्वर्ग ?

इस प्रकारके जीवनको स्वर्ग तो नहीं कहा जा सकता।

परन्तु ऐसा है क्यों ?

इस कठिन प्रश्नका उत्तर आसान है !

मनुष्य अपने अहं तथा स्वार्थके कारण सदा ही एक खतरनाक जानवर सिद्ध हो सकता है—एक ऐसा जानवर जो अपने गलत कार्यों पर तर्कके सुन्दर पर्दे डालनेकी क्षमता भी रखता है और अन्य किसी भी जानवरकी तुलनामें अधिक विनाशकारी भी बन सकता है। मनुष्यका स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि यदि उसको स्वतन्त्रता दे दी जाय तो वह उसका दुरुपयोग करता है। पाश्चात्य संसार और पूर्वमें भी स्वतन्त्रता, स्वच्छन्दतामें ही बदली ! यह स्वाभाविक ही है। मनुष्यकी स्वतन्त्रता पर कुछ अंकुश अवश्य ही होना चाहिए। समाज तथा कानून, अंकुशका काम निस्सन्देह बड़ा कमजोर है। मनुष्य कानून तथा समाजकी नजरोंसे बचकर यदि पाप करता तो पकड़में नहीं आता। समाज तथा कानून मनुष्यके पापके झुकावको अन्दरसे नहीं रोक सकते और ऐसी स्थितिमें धर्म ही केवल एक ऐसी शक्ति सिद्ध होता है जो मनुष्यको गलत करने पर अन्दरसे रोकता-टोकता है। पाप और पुण्यकी धारणा, एक परम परमेश्वरके सामने अपने कर्मोंका लेखा-जोखा देनेकी भावना और एक अनजानी अनदेखी शक्तिका भय ही मनुष्यकी गलत इच्छाओं तथा दुर्भावनाओं पर रोक लगा सकता है। धर्म ही एक ऐसी शक्ति है जो मनुष्यको दो टाँगोंवाले पशुके स्तरसे ऊपर उठाकर इन्सान बना सकता है। धर्मके मार्ग पर चलकर ही मनुष्य दूसरे मनुष्योंके लिए अहानिकर बन सकता है और केवल यही एक मार्ग है जिसपर चलकर जीवन जीने योग्य बन सकता है।

पश्चिमकी चमक पर न जाकर पूर्वके उज्ज्वल मार्ग पर चलनेमें ही मानव-कल्याण निहित है।

●

(पृष्ठ २७८ का शेषांश)

जीवनकी तमाम प्रवृत्तियोंके साथ यौगिक क्रियाओंका अभ्यास ब्राह्म मुहूर्त और सायकालमें करना चाहिए। कोई भी व्यक्ति रविवारको या छुट्टीके दिन प्राणानुसन्धानके लिए अधिक समय दे सकता है। इसका अभ्यास करते हुए कोई भी मनुष्य मानसिक तनावोंसे मुक्त होकर शाश्वत शान्ति और आनन्द पा सकता है।

●

होम्योपैथिक डाक्टरोंके अनुभव

संकलन कर्त्ता—डाक्टर लीलाधर मल्होत्रा
आर. एम. पी. (होम्यो.) वृन्दावन

सिरदर्द HEADACHE

सिरदर्द साधारणतः निम्नांकित कारणोंसे हो सकता है :—

१. मस्तिष्कमें रक्तका अधिक संचय
२. स्नायविक गड़बड़
३. दूषित वात-रक्तजनित (वातग्रस्त मनुष्योंमें)
४. अजीर्णके कारण
५. आँतोमें कृमि
६. पित्तविकृति
७. मस्तिष्ककी आंत्रिक विकृतिके कारण

१. रक्त संचय जनित सिरदर्द—धमनीके किसी प्रकारके उपप्रदाहके कारण तेजीसे मस्तिष्कमें अधिक परिमाणमें रक्त इकट्ठा होने या सिरकी दुर्वलताके कारण या रक्त संचालन क्रिया घट जाने पर मस्तिष्कसे रक्तके लौटनेकी गति मन्द होनेपर इस तरहका दर्द होता है। इसके दो प्रकार होते हैं—

(क) मुख्य कारण जनित सिरदर्द—१. खुजली, खसड़ा आदि किसी चर्मरोगका अचानक दब जाना। २. वातका दर्द व सूजन एकदम घट जाना। ३. ववासीरसे रक्तस्राव व मासिक रजस्रावका एकदम बन्द होना। ४. परिश्रम बन्द कर अचानक आलसीकी तरह बैठ रहना सदृश कारणोंसे इसकी उत्पत्ति होती है।

(ख) गौण कारण जनित सिरदर्द—१. अत्यधिक शुक्रक्षय करने पर २. अधिक दिनों तक शिशुको स्तनपान कराने पर ३. स्त्रियोंको अधिक दिनों तक स्थायी ऋतुस्रान होने पर ४. उपदंश, वात, कैन्सर, मज्जागत ज्वर जैसे धातुगत रोग भी इसका कारण होते हैं।

२. स्नायविक सिरदर्द (NERVOUS HEADACHE) यह प्रायः किसी गौण कारणसे मस्तिष्कमें रक्त संचय होकर होता है। बहुत कमजोर व स्नायु प्रधान धातु वाले व्यक्ति ही इस रोगसे अधिक आक्रान्त होते हैं। बहुत दुःख, क्रोध, भय, शोक, उपवास, परिश्रम, उद्वेग, आनन्द आदिसे इसकी उत्पत्ति होती है। अलावा इसके शरीरके किसी आन्तरिक अवयवकी विकृति होने पर भी इस प्रकारका सिरदर्द हुआ करता है—इस प्रकारका

सिरदर्द किसी एक निर्धारित समय पर आक्रमण करता है, कभी एक, कभी दो, कभी तीन कभी चार सप्ताहके अन्तरसे रोगका आक्रमण होता है। मस्तकके आधे हिस्सेमें दर्द अधिक होता है। दर्द शुरू होते ही मिचली व कै शुरू हो जाती है जिस ओर सिरदर्द होता है उस तरफकी आँख फूली फूली व पानी भरी दिखाई देती है।

३. दूषित वात जनित सिरदर्द—इस रोगका आक्रमण भी समय-समय पर होता है इसका दर्द किसी एक निर्दिष्ट स्थानमें सीमाबद्ध हुआ करता है रोगी ऐसा महसूस करता है मानो मस्तककी पेशीको खींचकर पकड़ा हुआ हो। उपर्युक्त लक्षणोंके आधार पर इसका अन्य सिरदर्दोंसे प्रभेद किया जा सकता है—शरीरके किसी स्थानमें बात का दर्द प्रकट होने पर सिरदर्द क्रमशः घट जाता है।

संक्षिप्त चिकित्सा—

१. ऐकोनाइटनेप ६, ३० (Aconite Nap) सर्दी तथा रक्त सञ्चालनमें गड़बड़ी रहनेके कारण सिरदर्द होना, कभी २ कपाल और कनपटीमें टपक का दर्द। हिलने, डोलने, सर झुकानेसे वृद्धि, विश्रामसे कम होना।

२. नक्स वोमिका ३०-२०० (Nux Vomica) माथेमें रक्त संचय तथा बवासीरके कारण सिरदर्द, मिचली और कब्जियतके लक्षण, मानसिक परिश्रमके बाद और सर झुकाने पर दर्द बढ़ना, अधकपारीका दर्द जो प्रातः अधिक और सायंकाल कम होना।

३. बेलाडोना ३०-२०० (Belladona) चेहरा लाल, आँखें गर्म व बड़ी मालूम होना, टपककी तरह दर्द, प्रकाश व आवाज सहन न होना, दर्द एका-एक शुरू व बन्द होना।

४. ब्रायोनिया ३०-२०० (Bruonia) रक्त संचय और बातके कारण अत्यन्त सिरदर्द हिलने-डोलनेसे अधिक और दबानेसे कम होना। अर्ध-कपारीमें विशेषकर दाहिनी ओरका दर्द हो।

५. ग्लोनोइन ६-३० (Glonoin) धूप या आगकी गरमीके कारण सिरदर्द, आधी वस्तुएँ साफ और अन्धकारमय दिखायी दें। चिलक विशेषकर ऐसी मानों सिर फट जायेगा।

६. नेट्रमम्यूर ३०-२०० (Natrum mur) सूर्योदयसे सूर्यास्त तक दर्द, अधिक दर्दके साथ अधिक पसीना, यह दर्द प्रायः पढ़नेवाले स्कूली बच्चोंको होता है।

७. काफिया ३००-२०० ८. (Coffea) स्नायविक सिरदर्दके साथ नींद न आना।

८. जैल्सिममिय ६-३० (Gelsimium) रोगी को चारों ओर अन्धेरा दिखाई देना, माथा तमतमाया और गर्दनके पीछे दर्द अधिक होना, सुस्ती व जम्हाई होना।

९. इग्नेशिया ६-३० (Ignatia) जल्दबाजी, चिड़चिड़ापन या मानसिक उत्तेजना के कारण सिरदर्द।

१० स्पाईजिलिया ३०-२०० (Splgelia) सूर्योदयके समय दर्द आरम्भ होकर दोपहर तक धीरे-धीरे बढ़ता है। आधे सिर में विशेषकर बाईं ओर दर्द, सूर्यास्त तक दर्द शान्त हो जाता है। दाहिनी ओरके सिरदर्दमें सैंगुनेरिया (३०-२००) लाभदायक है।

११. ओनोस्मोडियम ३०–२०० (Onosmodlum) थकावटके कारण आँखों पर बोझ होने पर सिरमें दर्द व चक्कर आना। (क्रमशः)

●

(पृष्ठ २८५ का शेषांश)

ऐसी ही बात उस तुलाधार वैश्यकी है। जाजलि ब्राह्मण उसके पास ज्ञान पानेके लिए जाता है। तुलाधार कहता है—'तराजूकी डंडी सीधी रखनेमें ही मेरा सारा ज्ञान समाया हुआ है!'

वैसी हो कथा व्याधकी है। व्याध तो कसाई। पशुओंको मार कर वह समाजकी सेवा करता था। एक अहंकारी तपस्वी ब्राह्मणको उसके गुरुने उस व्याधके पास जानेको कहा। ब्राह्मणको आश्चर्य हुआ कि, यह कसाई मुझे क्या सिखायेगा! फिर भी वह व्याधके यहाँ गया। व्याध क्या कर रहा था? मांस काट रहा था, धो रहा था और साफ करके उसे बिक्रीके लिए रख रहा था। उसने ब्राह्मणसे कहा—'देखो, मेरा यह कर्म जितना धर्ममय किया जा सकता है, उतना मैं करता हूँ। अपनी आत्मा जितनी इस कर्ममें उड़ेली जा सकती है, उतनी उड़ेल कर मैं यह कर्म करता हूँ और माँ-बापकी सेवा करता हूँ।' ऐसे इस व्याधके रूपमें व्यासदेवने आदर्श मूर्ति खड़ी की है।

महाभारतमें ये जो स्त्री, वैश्य, शूद्र आदिकी कथाएँ आयी हैं; उनका उद्देश्य यह है कि, सबको साफ-साफ दीख जाये—उनकी समझमें आ जाये—कि, मोक्ष-द्वार खुला है।

●

GEETA AS SELF REALIZATION

By : *Snri Ghanshyam Sharma*
M. A. (Philosphy) Bsc. B. T.

The Educant's Role—The educant, being within the peacefull mental position and heartened faith; turns up himself in peacefull attentive mood of the convergent will. In taking and accumulating the neetre milk of science of Yoga, the cleaniness of the pot of heart is most essential. So educant must be of heartened faith in dedicative meditation.

Most probably, the teacher must be of parential standard, to bless the education as seered duty to get realised the whole knowings to the Gole as Knowledge. The educant must realise the vibrations of the heart and mind both of the educator in achieving the gole of mercifull vision through transfer of ectasy by the Suprem Educator.

In having the education of objectivity, the circumstantional, reason mind and ego are necessary. But to get realised of the science of Yoga, a pure and surrendering heart is most essential. The supremacy of the Supreme Educator, can direct the student's mind, even irrespective of time, space and cause. The mercifull educant's duty is only to wind, the knob of faith of surrenderedself, to concide the needle to the vibrations, which are ever in

continuation from the Lord to the beings of the universe. One can apprehend and realise, directly where one is seated, with mind and heart attached to the Infinite Being of Transcentental order either as a Definite or Unmanifested Infinite Authority. For Divine perception of the Lord, a surrendered faith is most essential. These vibra are of Intutive cadre of extra sensory preceptions invision of para-radio-magnetic viabrations. Mind it, that these are not imaginary, so the existance of higher Insentient starts from divinity and only for those devottes who are above the level of pleasure and pain, and worship the Supreme Lord for His sake only.

Supreme Educator—Here both, Educator and the educant are of highest order. Educator is, the Supremet Trancendent Infinite Being; the Supreme Lord of all the regions of the University, complete as a whole with His authorities complete in parts to consider the Universal dealings. Thus Narayana is Himself, knowledge Existance Absolte, Almighty and Bliss Absolute—etc. There is neither beginning nor the end of the educator. Every thing resides within Himself and not beyond, He is Himself the Reason, Gole, knower knowledge i. e. to say All in All, the Transcedent Infinite Being in Whom All the Infinities Merge and forthcome in the beginning of the creation with different attitude. He is the primce cause of every happening of the Universe. The Educatior's Abode starts where the plance of pleasure-and pain ends i. e. to say the creations of the creator the Absoute i. e. Greate Brahma come forth at the beginning of the day and merges in the night of Him. The Supereme Educator is such, That even the tinest spark adjuncting with His Yog-Maya

gives the reistance of one Universe, subject to his Supreme Planning will.

The Divine etheral waves continuously start from one point touch at the feet of the Lord. This point when projected further, turns up in One Great Dynaic Equilibrim His apprenenstion in front of the seeker, makes him realised of the fact that the individual, remains at no list of thoughts or emotions.

The Lordship declares, though being the Author of entire Creation, but non-doer. The Lord resides in every being and every being is within Himself but really speaking Supreme Educator attached to non.

Further, it is to be declared, that through the Lordship has been prayed, but Hss fow of the Suprme Or-dinces for the edevottee of Great Dynamic Adjustment are given as follow—

Scare is the person, who gets rid of, this Great Illusion. The Mirage, Maya of Mine, Neither the demons, nor gods or human beings know and recogneee this and My coming to this Lab of Universe. Because all My activities are divine, in causative visiions as the Supereme Most cause of Universe, representing the Integrations and Differntiation process through all the entities.

When goodness, grows weak and evil increases, Then 'I' come back from Infinite to Definite "One" To release the holy and errect Righteousness and to combat the sin and the sinner both, Neither by attention or meditation or by perceptive values and sacrifieces (both manifested and un-manifeste), Tapa or Japa

Diamond or by any power it is entirely impossible to get Myself, but to whom I being mercifull only that gets enlightened one, otherwise not. This is the Supreme Ordinance of Mine. The devottees who pray Me for My sake only, I am everwith them.

Only those remain deprived of My mercy who do'nt believe in My existance. The Yogis attached with Me in meditation call Me as follows : Fools deride Me.

"Obeisance to Vishnu, the dispeller of the fear of Death, the only Lord of all the regions, possessed of tranquil form, lying on the bed of Shesh, from whose navel, spring the Divine Lotus seated Brahma (Creator the Absolute)" the Lord of celestials, the support of the universe, comolextion similar to sky, possessed of the colour of the clouds and the handsome limbs, the Lord of Lakshmi (the Goddess of wealth) having lotus like eyes.

Shri Maha-Lakshmi "The Infinite Divine Potency of My heart's temple, becom one to My Definite self for Her thoughts of Universal Atoms administration as follows :—

Lordship caused the concept of universe with a planning will and surrendered to Mother the Absolute (Maha-Lakshmi) and the same was surpassed to Yamraj, further Yamraj to time and Myself being Time measured each and every thing from above to below. Earth is negligible point in Universe.

Supreme Educator's Mercy to get realised—'The Educant' The Immortal Science of Yoga to the incarnated Sun-god (When silent without rays) POSTURE in Devotion.

The educant is within ectary; adjunct directly to the Infinite Being i. e. Sheshshai Vishnu. The comlexion of Sun-god at this time is reddish without rays, giving yellow like flame, lightly, At this moment sun-god is shoved by the divine merciful rays from the Supreme Monark of all the Universe, so as to realise Himself as the sould and controller of Universe. And this functioning remains always with respect, to time and space scaling the longitudes creating causes and effects in the mental world of Negligible magnitude.

At the ectasy state Sun-god remains peacefull with divine godly eyes, giving mercifull attitude to Great Adjustment. Under this mercy of Lord Kind Vivasavan turned himself to four handed form god, habing two redlotus in the above two arms, blessing Laxmi and Saraswati. Mercy to the subject of whole of the solar regime. This sort of Sun-god is with the Yoga of Devotion under direet mercy of the Lord. One of the two lower limbs is for blessing another for causes for supply in need for the subject.

Sun-godo'n Secred Duty with the Status of Emperor and Supreme Controller of Solar System.

Under the orders of the Supreme Educator and Motivator, with transfer of mementary mercy, the incarnated king Vivaswan turned in four handed Lordship, at the screen of the causative self, Vivawan recognised himself, like Shri Vishnu, possessing conch, moving Sudershana Disk, red lotus and the blessed hand. This divine Sun-god is blessed with armour, divine rings in both the ears, necklace, crown of divine gold splended with rubies.

In continuation of the above, the divine glimpse of sun-god comes accidentally with his convinience chariot of seven white horses with the silvery white strings in the hands of driver. The sun-god emerges out from the red clouds and gets down of the chariot having a tranlucent slowly moving disk at the back.

Under objective consideration, sun-god himself, is the Supreme Cause Element to give illumination to every member of the solar-family and a cencience force of awareness emerges out by itself and to itself. These heartened emotions are above mind reason ego.

Sun has got layrs of zero (etheral medium), one electronic element (H^2) and two electronic (He) from surface to onward in orbits. The sympathetic viabrations turn up the etheral medium into motion, so as to emerge ont huge photones energy at the photo sphere of Sun. Thus Neuclar Energy exist due to neuclarfistion at Isotopes of He and Tritiam and Denterium turns up to the state of Heliun So three belts simultenously in order as mentioned.

$$2 H^3 + 1H^2 - He^4 + on' + \text{Energy.}$$
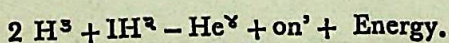
Resing of Sun-god of ectasy :

Under orders of TIME, Sunever rises and seales this planet with respect to time, Spaee and cause to the Integrated values of every consideration. Coneptually, Sun rises and sets on the moving planets with respect to time, space and cause with the vision of different attitudes of recognition'.

Sun is the base element of Vishveshwari and Sadashiva in the. form of sun-god who controls the whole functioning

as the Emperor of Universe through all the planatary system of Universe. That is to say that the Sun-god has got the same ualue as the Emperor to the nationals of the nation stand up in His Majesty's Honour. Whatever the status of the person. his person stoops down in the respect of the presence. The Highness gets due regard and from the subject; though the emperor never claims this honour from the public. So sun-god when rises all the starts become fade and dim. This emperor of Universe is responsible for the maintenanee of the beings and their rights in very consideration of political philosphy and not diplomacy in cheating the subject.

Adverse Affect of Sun-gob or Vishnu pralya—At the night of Creater the Absolute (Brahma or Allalia) when cause is created under Sheshae Vishnu (Khuda or God) orders and planning. The shesh makes the target, of His divine fire at the Antartikta and Artic Oceans) as to melt the whole of the snow to the liquidty's Mool nakshatra is just pressed and the rays of the Sun-strikes, straight on the equator. As a result of this caustive planning, heavy rain fall prevail every where on the planet of earth which rsults (Along) a high water level and great number of deseases. Aolngwith this C-in C of Universe i. e. Lord Scânda orders both the Generals Rahu and Ketu to disturb the irrelavent adjustment on the earth of false doings such as non-unity, indiscipline within the society so as ti paar and maar of the goodness and Righteousness. In after affects of theses incidents, earth quakes and wars become the institutions for re-adjustment of world society. The viraat Form of Shri Maha Kaali accepts demonistic population in Her mouth with the highest possible velosity

and in Great Blood shed ocean under Her feet. Thus Dhoomawati or (Alaxmi) envelops the whole creation and merges in Her Supremacy.

So, Sun-god incarnation was given realization as Suraya Naranaryan or blessed Supreme Father God of Universe. And so must be workshipped with heartened faith to be wealthy, prosperous and in indulgence of work to satisfy the whims of mind and pragma iveaspect for the society and for self. The Divine Surya-Mani, Aakshya Patre of Lotus formation is blessed for ever Contineous supply to the subject. All the Sesons mines, life to the living beings and administration of manifested unmanifested is Controlled by Sun-god

•
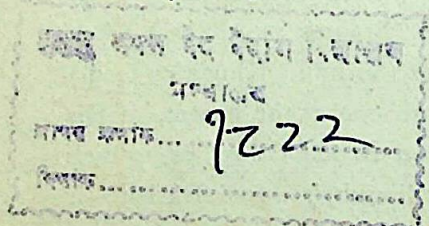
कानोंकी अञ्जलिसे अमृतके समान पीने योग्य क्या है ?
सन्तोंका उपदेश ।
बड़प्पनका मूल्य क्या है ?
बस केवल इतना ही कि किसीसे कुछ माँगा न जाय ।

•
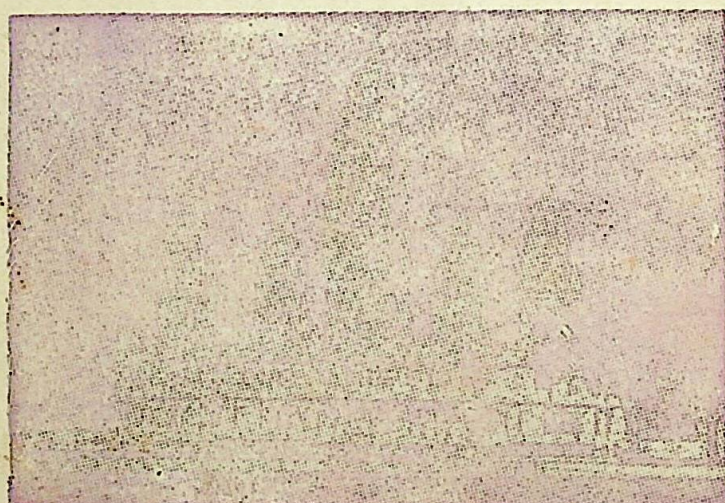
सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट, बम्बई के लिए विश्वम्भरनाथ द्विवेदी द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा आनन्दकानन प्रेस, सी-के. ३६/२० वाराणसीसे मुद्रित।